MATS UNIVERSITY

NAAC GRADE A+ ACCREDITED UNIVERSITY

MATS CENTRE FOR OPEN & DISTANCE EDUCATION

विश्व के प्रमुख राजनितिक विचारक एवं विचारधारा

बैचलर ऑफ़ आर्ट्स (बी.ए.)

चतुर्थ सेमेस्टर

SELF LEARNING MATERIAL

COURSE DEVELOPMENT EXPERT COMMITTEE

1- Prof.(Dr.) Reshma Ansari, HOD Hindi Department , MATS University Raipur Chhattisgarh
2- Dr. Sudhir Sharma , Subject Expert ,HOD Hindi Department, Kalyan College, Bhilai
3- Dr. Kamlesh Gogia Associate Professor, MATS University ,Raipur, Chhattisgarh
4- Dr. Sunita Shashikant Tiwari Associate Professor, MATS University Raipur Chhattisgarh
5- Dr. Rajesh Kumar Dubey , Subject Expert, Principal , Shahid Rajeev Pandey Government College ,Bhatagaon , Raipur ,Chhattisgarh
6- Dr. Naaz Benjamin , Principal ,Government Mata Shabri Naveen Girls College, Bilaspur, Chhattisgarh

COURSE COORDINATOR

Mr. Khileshwar Raxsel ,Assistant Professor, MATS University ,Raipur, Chhattisgarh

COURSE /BLOCK PREPARATION

Dr. Sunita Shashikant Tiwari Associate Professor, MATS University Raipur Chhattisgarh

March, 2025

ISBN-978-81-987917-4-0

@MATS Centre for Distance and Online Education, MATS University, Village- Gullu, Aarang, Raipur-(Chhattisgarh)

All rights reserved. No part of this work may be reproduced or transmitted or utilized or stored in any form, by mimeograph or any other means, without permission in writing from MATS University, Village- Gullu, Aarang, Raipur-(Chhattisgarh)

Printed & Published on behalf of MATS University, Village-Gullu, Aarang, Raipur by Mr. Meghanadhudu Katabathuni, Facilities & Operations, MATS University, Raipur (C.G.)

Disclaimer-Publisher of this printing material is not responsible for any error or dispute from contents of this course material, this is completely depends on AUTHOR’S MANUSCRIPT.
Printed at: The Digital Press, Krishna Complex, Raipur-492001(Chhattisgarh)

अनुक्रमणिका

माड्यूल – 1	विषय – विश्व के प्रमुख राजनितिक विचारक – **IV**	
	प्राचीन ग्रीक विचारक	
	इकाई – 1 अरस्तु का जीवन परिचय	1-6
	इकाई – 2 अरस्तु के मतानुसार राज्य की प्रमुख विशेषताएँ	7-16
	इकाई – 3 संविधानों के वर्गीकरण का सिद्धांत	17-26
माड्यूल – 2	पश्चिमी राजनीतिक विचारक	
	इकाई – 4 मैकियावली का जीवन परिचय	27-32
	इकाई – 5 मैकियावली के चिंतन के प्रमुख विशेषताएँ	33-42
माड्यूल – 3	आधुनिक पश्चिमी राजनीतिक विचारक	
	इकाई – 6 जीन मैक्स रूसो का जीवन परिचय	43-45
	इकाई – 7 जीन मैक्स रूसो	46-48
	इकाई – 8 रूसो का सामाजिक समझौता सिद्धांत	49-50
	इकाई – 9 सम्प्रभुता संबंधित विचारक	51-53
	इकाई – 10 जेरेमी बेन्थम का जीवन परिचय	54-61
	इकाई – 11 कानून तथा न्याय व्यवस्था	62-69
	इकाई – 12 जे.एस. मिल का जीवन परिचय	70-85
	इकाई – 13 जार्ज विल्हेम फेडरिक हीगल का जीवन परिचय	86-98
	इकाई – 14 टी.एच.ग्रीन का जीवन परिचय	99-111
माड्यूल – 4	प्रमुख आधुनिक पश्चिमी राजनीतिक विचारक	
	इकाई – 16 कार्ल मार्क्स का जीवन परिचय	112-120
	इकाई – 17 मार्क्स के अनुसार सामाजिक इतिहासों का वर्गीकरण	121-129
	इकाई – 18 हैराल्ड जोसेफ लास्की	130-149

Acknowledgement

The Material (Pictures and images) we have used is purely for educational purpose. Every effort has been made to trace the copyright holders of material reproduced in this book. Sould any infringement have occurred, the publishers and editors apologize and will be pleased to make the necessary corrections in future of this book.

माड्यूल – 1

प्राचीन ग्रीक विचारक

इकाई – 1 अरस्तु का जीवन परिचय जीवन परिचय

अरस्तू प्लेटो का षिश्य था, परन्तु वह अपने गुरु की तरह कल्पनावादी न होकर यथार्थवादी था ।अरस्तू को राजनीति विज्ञान का जनक कहा जाता है। साथ ही वह दार्षनिक और साहित्यकार भी था ।अरस्तू की विषेशता यह रही कि उसने राजनीतिषास्त्र को स्वतंत्र रूप से एक विज्ञान का रूप दिया।

अरस्तु का जन्म 384 ई० पू० मकदूनिया के नगर स्टैगीरा में हुआ था। उसके पिता राजकीय चिकित्सक थे। अरस्तू का पालन पोशण भााही परिवार में हुआ था। 17 वर्श की अवस्था में उसे एथेन्स में प्लेटों के पास पढ़ने भेजा गया। प्लेटों की अकादमी में उसने 20 वर्श तक षिक्षा ग्रहण की। अरस्तू की प्रक्रिया के कारण प्लेटो उसे अपनी अकादमी का मस्तिश्क कहा करता था। अरस्तू ने एषिया माइनर का भ्रमण किया और उसे कई भासकों ने अपने यहाँ रहने का निमंत्रण दिया। यह कुछ स्थानों पर रहा भी, पर अन्त में जाकर उसने एथेन्स में ही एक अकादमी का प्रधान रहा। 322 ई० पू० सिकन्दर महान् की मष्त्यु के पष्चात् उसका देहावसान हो गया। सिकन्दर का वह गुरु था जिसके कारण उसकी ख्याति और अधिक फैल गई थी ।

रचनाएँ

पहला भाग

दूसरा भाग

तीसरा भाग

चौथा भाग पाँचवा भाग

छठा भाग

सातवाँ भाग

आठवाँ भाग

अरस्तू की महत्वपूर्ण रचना ष्पॉलिटिक्सष् है। यह ग्रन्थ 8 भागों में विभाजित है– इसमें राज्य की प्रकृति और दासता का विवेचन है ।

इसमें पूर्व प्रतिपादित सिद्धान्तों का ऐतिहासिक अध्ययन किया गया है। इसमें प्लेटों के आदर्ष पर भी विचार किया गया है।

इसमें संविधान के विभिन्न स्वरूपों का विवेचन है। नागरिकता तथा न्याय का वर्णन भी इसमे है ।

इसमें संविधानों का वर्गीकरण करके उनकी समीक्षा की गई है।

इसमें क्रांत्तियों के कारणों तथा उसके समाधान के उपाय बताये गये है।

इसमें लोकतंत्र तथा धनिकतंत्र का वर्णन है ।.

इसमें आदर्ष राज्य का वर्णन है।

इसमें आदर्ष राज्य का वर्णन भी है तथा विभिन्न प्रकार के संविधानों तथा उनकी समस्याओं पर विचार किया गया है।

अरस्तू ने अन्य अनेक विशयों पर लिखा है और उसकी समस्याओं की संख्या लगभग 400

है, पर राजनीति की दृश्टि से ष्पॉलिटिक्सष ही महत्वपूर्ण है। इस ग्रन्थ के विशय में प्रो० बाउले का कथन है कि अपने विशय का पॉलिटिक्स सर्वाधिक प्रभावषाली तथा गंभीर ग्रंथ हैं जिसका अध्ययन सबसे पहले किया जाना चाहिए !श

अरस्तू प्रथम राजनीतिक वैज्ञानिक, राजनीति विज्ञान का जनक

• अरस्तू को राजनीतिकषास्त्र का जनक निम्नलिखित आधारों पर कहा जाता है–

(1) वैज्ञानिक दृश्टिकोण का प्रयोग – अरस्तू ने राजनीतिषास्त्र के सिद्धान्तों का प्रतिपादन वैज्ञानिक दृश्टिकोण से किया है। उसने अपने पूर्व तथा अपने समय के प्रचलित सभी राजनीतिक स्वरूपों तथा सिद्धान्तों का अध्ययन किया तथा उनसे क्रमबद्ध तथ्य एकत्र किये तथा अनेक देष के संविधानों का भी अध्ययन कियां ऐसा कहा जाता है कि पॉलिटिक्स की रचना से पूर्व अरस्तू ने 156 देषों के संविधानों का अध्ययन किया था। उसके बाद अपने सिद्धान्त प्रतिपादित किये तथा राजनीति को नवीन दिषाएँ प्रदान की। उसका विवेचन तथ्यों, परीक्षणों और उदाहरणों पर आधरित तथा क्रमबद्ध था, इसीलिए उसे इस भास्त्र का प्रथम वैज्ञानिक विचारक कहा जाता है।

(2) राजनीति को स्वतंत्र विज्ञान का रूप प्रदान करना – अरस्तू ने राजनीतिषास्त्र को एक स्वतंत्र विज्ञान का रूप प्रदान किया । अरस्तू से पूर्व राजनीति, नीतिषास्त्र तथा दर्षन मिले–जुले थे । प्लेटों ने अपने ग्रन्थों में राजनीति को स्वतंत्र महत्व न देकर उसके ऊपर नीति को हावी रखा था। अरस्तू ने राजनीति और नीति को एक–दूसरे से प अंक किया । उसका मत था कि नीतिषास्त्र उद्देष्यों से तथा राजनीतिषास्त्र साधनों से सम्बन्धित है अरस्तू ने राजनीति विज्ञान को स्वतंत्र विज्ञान का रूप प्रदान कियां चरन् इसे सर्वोच्च विज्ञान कि स्थिति प्रदान की। डेनिंग के भावदों में, श्अरस्तू ने नीतिषास्त्र और राजनीतिषास्त्र पर प थकप थंक ग्रन्थों की रचना कर वैज्ञानिक अध्ययन का मार्ग प्रषस्त किया ।

(3) यथार्थवादी दृश्टिकोण – अरस्तू प्रथम विचारक है जिससे राजनीति पर यथार्थवादी दृश्टिकोण से विचार किया। उसका चिन्तन तथ्यों पर आधारित है, कल्पनाओं पर नहीं। अरस्तू ने राजनीति पर यथार्थवादी तथा व्यावहारिक दृश्टिकोण से विचार किये है। उसका एक अपूर्व गुण संयम या संतुलन का तत्व है। उसने सदैव ही अतिवाद से बचते हुए मध्यम मार्ग का प्रतिपादन किया है। इसीलिए केटलिन ने कहा है कि श कन्फ्यूषियस के बाद अरस्तू सामान्य ज्ञान और मध्यम मार्ग का सबसे बड़ा प्रतिपादक है। श्अपनी यथार्थवादी के कारण ही अरस्तू अपने गुरु प्लेटों की सम्पत्ति और पालियों के साम्यवाद का समर्थन नहीं करता। वह जनता पर वही नियंत्रण लगाने का पक्षधर है जो जनता के हितों में हों और उसके

विकास में बांधक न हों। वह दार्षनिक राजा के स्थान पर जनता के विवेक में विश्वास करता है। वह बहुसंख्यक जनता की सर्वोच्च सत्ता में विश्वास करता है। इस सम्बन्ध में अरस्तू का कथन है कि, श्इस सिद्धान्त मे कि थोड़े से सर्वश्रेश्ठ व्यक्तियों की अपेक्षा बहुसंख्यक जनता में ही सर्वोच्च सत्ता का निवास होना चाहिए, कठिनाइयाँ अवष्य हैं, किन्तु इसमें सत्य का अंष है।

(4) राजनीतिक संस्थाओं का आर्थिक आधार अरस्तु ऐसा प्रथम विचारक है जिसने राजनीतिक संस्थाओं को आर्थिक आधार प्रदान करने का प्रयास किया। उसने बताया कि सम्पत्ति का लक्ष्य और वितरण भासन व्यवस्था के रूप को निष्चित करता है। अरस्तू ने अर्थव्यवस्था का विस्तष्त अध्ययन करके उसने यह निश्कर्श निकाला कि सम्पत्ति पर व्यक्तिगत स्वामित्व रहे, पर उसका प्रयोग सार्वजनिक हो तो राज्य समस्याओं का समाधान सरलतापूर्वक हो सकता है। उसने यह सिद्ध कर दिया कि जब तक मध्यम वर्ग का उदय नहीं होता तब तक राज्य आत्म–निर्भर नहीं हो सकता है ।

(5) कानून की सर्वोच्चता – अरस्तू ने भासन में कानून की सर्वोच्चता के विशय में व्यवस्थित विचार किया है। वह परम्परागत कानूनों तथा नियमों की श्रेश्ठता में विश्वास करता था । प्लेटों तो सर्वोच्च व्यक्ति या दार्षनिक के भाासन में विश्वास करता था, जबकि अरस्तू विधि के भाासन में विश्वास करता था । इसी कारण उसे संविधानवाद का भी जनक कहा जाता है।

अरस्तू द्वारा की गई कानून की व्याख्या के आधार पर ही बोदा, ग्रेषिय, बेन्थम, हॉन्स, आस्टिन, लॉस्की आदि विचारकों ने वैधानिक सम्प्रभुता की व्याख्या की है। सम्प्रभुता के बारे में आ पुनिक राजनीति अरस्तू की बहुत ऋणी है।

(6) राज्य के पूर्ण सिद्धान्त का वर्णन

अरस्तू वह प्रथम पष्चिमी विचारक है जिसने राज्य के पूर्ण सिद्धान्त का कमबद्ध विवेचन किया है। अरस्तू ने राज्य के जन्म, विकास, स्वरूप, संविध न. सरकार का निर्माण, नागरिकता, कानून, क्रांति आदि महत्वपूर्ण विशयों पर विस्तार से प्रकाष डाला है। ये सभी विशय आधुनिक राजनीतिक चिन्तन के विशय है। परन्तु वैज्ञानिक दृश्टिकोण से विचार करके उसने राज्य के पूर्ण सिद्धान्तवाद को प्रकट किया है। इसी कारण वह राजनीति का वास्तविक जन्मदाता बन गया। बार्कर के भाब्दों में, अरस्तू के विचार प्रायः आधुनिकतम है।

मनुश्य एक राजनीतिक प्राणी है।श इस उचित की अभिव्यक्ति सर्वप्रथम अरस्तू ने ही की थी और यह वाक्य राजनीति के इतिहास में सदा एक स्वयंसिद्धि के रूप में स्वीकार कर लिया गया।

(7) सरकार के अंगों का वर्णन अरस्तू ने सरकार के तीनों अंगों–नीति बनाने वाला भासन चलाने वाला तथा न्याय करने वालां पर विधिवत् विचार किया है। ये तीनों अंग विधायिका कार्यपालिका और न्यायपालिका कहे जा सकते हैं। उसने इन अंगों के संगठन कार्यों तथा भाक्तियों का भी वर्णन किया है। उसके सिद्धान्त आगे चलकर भाक्ति पृथक्करण ती नियंत्रण एवं संतुलन के आधार बने। आधुनिक सरकार की आकृति का प्रारम्भिक रूप अरस्तू के

सरकार सम्बन्धी विचारों में दिखाई देते हैं। आगे चलकर अरस्तू ने भाक्ति के पष्थक्करण के सिद्धान्त तथा भाक्ति के संतुलन के सिद्धान्त का भी संकेत किया है।

(8) वैज्ञानिक पद्धति – अरस्तू ने राजनीति के क्षेत्र में इस पद्धति में सर्वप्रथम आगमनात्मक तथा तुलनात्मक पद्धतियों का प्रयोग किया। इस पद्धति में पर्यवेक्षण कर एकत्रित तथ्यों का बिना किसी पूर्व धारणा के निशपक्ष रूप से अध्ययन कर वैज्ञानिक निश्कर्श निकाले जाते है। अरस्तू ने ग्रंथ ष्पॉलिटिक्सष की रचना से पूर्व 158 देषों के संविधानों का अध्ययन किया तथा इनका तुलनात्मक अध ययन तथा विष्लेशण किया। उसने इन भासन व्यवस्थाओं के ऐतिहासिक तथा वर्तमान रूपों को भी देखा तथा सम्पूर्ण तथ्यों की तुलना करने के बाद वैज्ञानिक ढंग से अपने सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया । इसीलिए उसे राजनीति विज्ञान का जनक कहा जाता है।

(9) राजनीति पर भौगोलिक और आर्थिक प्रभावों का अध्ययन

अरस्तू ने राजनीति पर पड़ने वाले भौगोलक तथा आर्थिक प्रभावों का अध्ययन कर यह प्रतिपादित किया कि सम्पत्ति का विवरण भासन व्यवस्था के स्वरूप को प्रभावित करता है, राज्य की समस्याओं का मुख्य कारण आर्थिक असमानता है, भौगोलिक स्थिति राज्य के दूसरे राज्यों से सम्बन्ध तय करती है।

(10) नागरिकता की व्याख्या – अरस्तू ने अपनी पुस्तक पॉलिटिक्स की तीसरी पुस्तक में नागरिकता की विषद् व्याख्या की है। अरस्तू द्वारा प्रस्तुत व्याख्या आधुनिक विद्वानों के लिए मार्गदर्षक रही है।

(11) अरस्तू ने वैज्ञानिक पद्धतियों का सहारा लेकर यह निश्कर्श भी निकाले – 1. क्रांति का मूल कारण आर्थिक असमानता होती है। 2 व्यक्ति की स्वतंत्रता पर उचित प्रतिबन्ध होने आवष्यक है । 3. सम्प्रभुता का निवास संविधान मे होता है। 4. भाासन केन्द्रीकृत न होकर विकेन्द्रित होना चाहिए। 5. लोकहित की उपेक्षा करने पर भासन का रूप विकृत हो जाता है।

उपरोक्त विवेचना से स्पश्ट है कि अरस्तू के विचार कल्पना पर आधारित नहीं हैं। अरस्तू का दृश्टिकोण वैज्ञानिक है। उसके विचार सुस्पश्ट है कि अरस्तू के विचार कल्पना पर आधारित नहीं हैं। अरस्तू को स्वतंत्र स्थिति प्राप्त होना अरस्तू की ही देन है। इन बातों के आधार पर ही मैक्सी ने अरस्तू को प्रथम राजनीति वैज्ञानिक कहा है।

अरस्तू के दासता सम्बन्धी विचार – अरस्तू ने अपनी प्रसिद्ध रचना ष्पॉलिटिक्सष की की प्रथम पुस्तक में दासता पर अपने विचार व्यक्त किये हैं। अरस्तू के समय में दास प्रथा यूनान का महत्वपूर्ण व आवष्यक अंग थी। अरस्तू से पूर्व भी दास प्राणी को अनिवार्य एवं प्राक तिक समझा जाता था । उस समय यूनान में खेती–बाड़ी, आर्थिक उत्पादन तथा भाारीरिक परिश्रम के घरेलू कार्य दासों द्वारा ही किये जाते थे तथा नागरिक लोग प्रायरू अवकाष का जीवन व्यतीत करते थे तथा रजाकाज व कला, साहित्य तथा विज्ञान में संलग्न रहते थे। दास प्रथा यूनानियों के लिए आवष्यक, उपयोगी और उनकी सभ्यता की प्रतीक थी। अरस्तू से पूर्व एण्टीफोन आदि कुछ सोफिस्ट विचारक दास प्रथा कोनिकृश्ट बताकर उसकी निन्दा करने लगे थे। सोफिस्ट विचारक एल्सिडेमस ने कहा था कि, श्ईश्वर ने सभी मनुश्यों को

स्वतंत्रच बनाया है तथा प्रकृति ने किसी मनुश्य को दास नहीं बनाया है ।श अरस्तू ने यूनानी सभ्यता को संकट से बचाने तथा सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक व्यवस्था को अक्षुण्ण बनाये रखने केलिए पूरी दार्षनिक योग्यता से दास प्रथा का यह समर्थन उस संस्था का तार्किक संरक्षण है, जिसे आज के सभ्य जगत ने अस्वीक त कर दिया है, यह ठीक जीवन के उस बड़े दोश को न्यायसंगत ठहराने का प्रयास है जोकि ग्रीक सभ्यता का एक बहुत बड़ा कलंक था। यह इस बात को सिद्ध करने का प्रयत्न है कि दास प्रथा ग्रीक जीवन को पल्लवित करने के लिए अनिवार्य तो है ही साथ हीं न्यायसंगत है।

दास की परिभाशा – अरस्तू दास की परिभाशा देते हुए कहता है कि, श्परिवार की व्यवस्था के लिए संजीव और निर्जीव दो प्रकार के साधनों की आवष्यकता होती है । सम्पत्ति एक निर्जीव साधन है और दास एक सर्जीव साधन ।

अरस्तू बताता है कि ग्रह – प्रबन्ध के लिए संजीव और निर्जीव दो प्रकार की व्यवस्था चाहिए । दास हाथी, घोड़ा, पषु–पक्षी आदि सर्जीव उपकरण है तथा घर, खेत, अचल सम्पत्ति आदि निर्जीव उपकरण है। घर–परिवार के लिए दोनों की जरूरत होती है परन्तु निर्जीव का संचालन संर्जीव द्वारा ही होती है। सर्जीव दास, स्वामी, तथा उसके परिवार के लिए उपयोगी होते है। अतः उनकी व्यवस्था जरूरी है। दास प्रथा के सहारे पारिवारिक प्रबन्ध होता है और पारिवारिक सुविधा की दिषा में ही स्वामी और समाज के विशय में अपनी धारणा बना सकता है ।

दास प्रथा का औचित्य

अरस्तू दास प्रथा को निम्नलिखित तर्कों के आधार पर उचित बताता है–

(1) दास प्रथा प्राकृतिक है दृ अरस्तू मानवीय असमानता की प्राक तिक स्थिति के आध र पर दासता को भी स्वीकार कर लेता है। वह मानता है कि व्यक्ति–व्यक्ति में गुण, योग्यता बुद्धि आदि का अन्तर प्राक तिक है। अतः स्वयं प्रक त नहीं चाहती कि सभी समान हो । उसका तो कहना है कि श्एक और अत्याधिक विवेकवान् लोग अपनी विवेक बुद्धि के बल पर भाासन करने की योग्यता रखते है तो दूसरी ओर ऐसे भी व्यक्ति हैं जो अपने विवेक की कमी के कारण केवल आज्ञापालन ही कर सकते है। स्वाभाविक रूप से पहली कोटि के लोग स्वामी और दूसरी कोटि के लोग सेवक होते है ।श्प्रथम वर्ग मानसिक भाक्ति का तथा द्वितीय वर्ग भारीरिक भाक्ति का प्रतिनिधित्व करता है। पारिवारिक कार्यों के लिए दोनों का सम्मिलन आवष्यक है। इसीलिए दासता प्राक तिक है।

(2) दासता नैतिक आवष्यकता – अरस्तू दाराता को एक नैतिक आवष्यकता भी समझता है। वह कहता है कि दास विवेक भान्य प्राणी होता है, पर विवेकषील स्वामियों के सम्पर्क के आकर वे धीरे–धीरे बनते जाते है। उसने स्पश्ट लिखा है कि श्जो जन्मजात दास हैं, उनके जीवन में. संयम का पालन तभी हो सकता है, जबकि वे संयमी व्यक्तियों के निर्देषन में काम करें। इस प्रकार दास प्रथा स्वयं दासों के नैतिक विकास में सहायक होती है।

(3) दास–प्रथा दोनों पक्षों के लिए लाभदायक – अरस्तू बताता है कि दासता एक अनिवार्य संस्था के रूप में परिवार अथवा राज्य तथा स्वामी की सेवा के लिए आवष्यक है। समाज का कल्याण इसी बांत में है कि विवेकषील सम्पन्न व्यक्ति अपने बौद्धिक और नैतिक गुणों का विकास करें। यह तभी सम्भव है जब कि इस वर्गके व्यक्ति्यों को पर्याप्त अवकाष हो

और यह अवकाष उन्हें तभी प्राप्त हो सकता है जबकि दास उनकी घरे आवष्यकताओं को पूरा करने के लिए श्रम करें। दास स्वामी को इस योग्य बनाना है कि वह नैतिक गुणों को प्राप्त कर सके। अरस्तू कहता है कि, श्जिस प्रकार वीणा आदि वाद्य यंत्रों की सहायता के बिना उत्तम संगीत उत्पन्न नहीं हो सकता, ष्उसी प्रकार दासों के बिना स्वामी के उत्तम जीवन का तथा बौद्धिक एवं नैतिक गुणों का विकास सम्भव नहीं है ।श दास प्रथा स्वामियों के साथ–साथ दासों के लिए भी लाभकारी हैं दासों में बुद्धि या विवेक का अभाव होता है किन्तु स्वामी का सम्पर्क पाकर उसमें संयम और विवेक आता जाता है। स्वामी के संसर्ग में उसमें नैतिक गुणों का विकास होता है। अरस्तू दास की स्थिति एक बच्चे के समान बताता है। यदि बच्चे का सही निर्देषन न मिले तो वह अनुचित राहों पर पड़ सकता है। इसी प्रकार स्वामी के अभाव में दास भ अपना अहित कर सकता है। जिस प्रकार बच्चे का कल्याण माँ–बाप के संरक्षण मे होता है, उसी प्रकार दासों का कल्याण स्वामियों के संरक्षण में ही सम्भव है। अरस्तू लिखता है कि, श्जो मनुश्य स्वभाव से ही दास है. उसके लिए दासता उपयोगी और उचित दोनों है ।

(3) राश्ट्रीय अर्थव्यस्था तथा स्वामित्व व अंग अरस्तू के समय में दास प्रथा सम्पू यूनान में प्रचलित थी और और वह राश्ट्रीय अर्थव्यस्था तथा स्वामित्व का अंग बन गई थी। यूनानी नगर राज्यों की अर्थव्यवस्था दासों पर ही आधारित थी । इनको समाप्त करने पर न केवल नगर राज्यों का भाक्ति संतुलन बिगड़ने का डर था वरन इन राज्यों की सारी आर्थिक, सामाजिक, राजनीतिक स्थिति बिगड़ जाने की आषंका थी । अतः अरस्तू ने अपनी व्यावहारिक बुद्धि के आधार पर दास–प्रथा का समर्थन किया है।

इस प्रकार अरस्तू ने दास प्रथा की सामयिकता और आवष्यकता का समर्थन किया है। उसने दासों को समाज का आवष्यक अंग माना है। अरस्तू के भाब्दों में, दासता न केवल आवष्यक वरन् सामयिक अनिवार्यता भी है ।

दासता के प्रकार अरस्तू ने दासता को दो भागों में विभाजित किया है–

(1) प्राकृतिक दासता (2) कानूनी दासता ।

(1) प्राकृतिक दासता – अरस्तू का मत है कि प्राकृतिक दास वे होते थे जिनका केवल भाारीरिक विकास हुआ था और जो मानसिक दृश्टि से बुद्धिहीन थे ।

(2) कानूनी दासता

अरस्तू का मत है कि युद्ध में किसी राज्य के पराजित युद्धवन्दियो को भी दास बनाया जा सकता है यह कानूनी दासता है। यह दासता युद्ध सम्बन्धी नियमों पर आध रित है। किन्तु युद्धबन्दियों को दास तभी बनाया जा सकता है जबकि विजेताओं की अपेक्षा बुद्धि मे हीन हों ।

दास प्रथा की भार्ते या मानवीय आधार अरस्तू ने दास प्रथा का समर्थन तो किया है पर सषर्त किया है। ये भार्ते इस प्रकार है–

(1) दासता के प्रकार– अरस्तू ने दास दो प्रकार के बताये हैं– एक प्राकृतिक दास तथा दूसरे कानूनी दास। प्राकृतिक दासों का केवल भाारीरिक विकास हो पाता है, मानसिक नहीं। कानूनी दास वे होते हैं जो युद्ध में पराजित होकर बना करते है। अरस्तू कानूनी दासों को

दास नहीं कहता क्योंकि ये युद्धों में बनते हैं और युद्ध न्यायसंगत नहीं हुआ करते। इस प्रकार अरस्तू के मतानुसार युद्धबन्दियों को दास तभी बनाया जाना चाहिए, जबकि ये बुद्धिहीन हों।

(2) पालन–पोशण की गारण्टी – अरस्तू यह भार्त लगाता है कि दासों का पालन–पोशण स्वामियों को करना है। दासों के प्रति स्वामियों का व्यवहार सहृदययतापूर्ण होना चाहिए। उसका यह भी कहना है कि यदि स्वामी दासों के प्रति अच्छा व्यवहार न करें तो उन्हें राज्य द्वारा दण्डित किया जाना चाहिए।

(3) यूनानियों की श्रेश्ठता – अरस्तू का कथन है कि यूनानियों को दास नहीं बनाया जा सकता और न वे दास बन सकते हैं, क्योंकि वे सर्वाधिक बुद्धिजीवी होते है ।

नहीं (4) दासता जन्म–मूलक नहीं – अरस्तू का कथन नहीं कि दासता जन्म–मूलक होती, यह उचित गुणों पर आधारित होती है। यह आवष्यक नहीं कि दास का बेटा दास ही हो । यदि उसमें विवेक ढंग आता है तो वह दास नहीं रहेगा। इस प्रकार गुणों के इस आधार पर दास प्रथा को आधारित करके उसने इसकी उग्रता को कम कर दिया है। पर साथ ही वह यह भी कहता है कि गुणों के आधार पर दास अंदास में भैद करना कठिन है।

(5) मुक्ति के अवसर – अरस्तू का यह भी कथन है कि दासों को मुक्ति का अवसर भी मिलना चाहिए और उनकी मुक्ति की आषा भी की जानी चाहिए। यह मुक्ति भी स्वामियों के सम्पर्क से विवेक बुद्धि पर होगी।

अरस्तू यह भी कहता है कि दास को चाहिए कि वह अपने स्वामी को आज्ञा का पालन उसे मित्र षुभचिन्तक समझकर करें।

इकाई – 2 अरस्तु के मतानुसार राज्य की प्रमुख विशेषताएँ

दास–प्रथा सम्बन्धी विचारों की आलोचना

अरस्तू दास प्रथा का समर्थन करता हैं जो उसकी गरिमा के विरूद्ध सा लगता है। विचारकों ने दास प्रथा की अंग्र लिखे आधारों पर आलोचना की है–

(1) अमानवीय प्रथा – दास प्रथा का विचार बड़ा ही अमानवीय है। आदमी दूसरे आदमी को दास बनाकर उसके साथ जानवरों जैसा व्यवहार करें, यह अनुचित है। आदमी आदमी की समानता हो सच्ची है ।

(2) मानव समूह का विभाजन असम्भव – अरस्तू द्वारा प्रतिपादित दास प्रथा के आधार पर मानक समूह को अप्राकृतिक आधार पर दो भागों में विभाजित किया जा सकता है। किन्तु मानव समूह को इस प्रकार के दो वर्गों में विभाजित करना तथा किसी व्यक्ति के सम्बन्ध में यह कहना कि वह गुण और योग्यता की दृश्टि से बिल्कुल हीन है– सम्भव नहीं है। इस सम्बन्ध में वार्कर का कथन है कि, श्यदि दास को किसी दृश्टि से मानव समझा जाता है तो उसे सभी दृश्टियों से मानव समझा जाना चाहिए और यदि उसे मानव मान लिया जाता है तो उसे बिल्कुल विवेकशून्य मानना ठीक नहीं और न यह न्यायोचित ही है ।श (3) विभाजन सर्वमान्य नहीं– अरस्तू का मानव–समूह की यह वर्गीकरण उचित नहीं है वह सर्वमान्य नहीं हो सकता। ऐसे अनेक प्रकार के विषिश्ट व्यक्ति ही सकते है। जिनकों न तो दासों में रखा जा सकता है और न स्वामियों में रखा जा सकता है। उसका यह विचार भी गलत है कि प्रकृति स्वस्थ और पुश्ट तन दासों को देती है तथा दुर्बल भारीर किन्तु विवेकयुक्त मन

स्वामियों को देती है। इस प्रकार के विचार स्वाभाविक तथा हास्यास्पद है। अरस्तू के ऐसे विचारों पर ही प्रो० मैक्लेवन ने टिप्पणी की है कि, श्अरस्तू ने श्रम को दण्डित किया है ।

(4) अव्यवस्था व उपद्रव का कारण – अरस्तू की दरा प्रथा सम्बन्धी विचारधारा उपद्रवों को उकसाने वाली है। स्वामी और दास वर्गों में समाज को बांट देना उपद्रव और व्यवस्था की निमंत्रण देना है। ऐसे विचार समाज को मानों किसी ज्वालामुखी पर लाकर खड़ा कर देते हैं, जो चो जब फट सकता है। इस सम्बन्ध में प्रो० रास कहते हैं कि, श्अरस्तू में जो रतुन्य नहीं है, वह है उसका मानव जाति को कुल्हाड़ी से दो भागों में काट डालना।

(5) विरोधाभासपूर्ण विचार –– दास पथा सम्बन्धी अरस्तू के विचार विरोधाभासपूर्ण है। एक और तो वह कहता है कि दास विवेकषून्य होते है तथा दूसरी ओर कह देता है कि स्वामियों के सम्पर्क में आने पर उनका विकास होता है। तब तो वे भी विवेकवान बन जायेंगे। यदि कोई प्रकृति से ही विवेकषून्य है तो उसका विकास नहीं हो सकता और यदि उसका विकास किया जा सकता है तो उसको दास बनाने की क्या आवष्यकता है?

(6) स्वतंत्रता तथा समानता की भावना के विपरीत – अरस्तू ये विचार स्वतंत्रता तथा समानता की भावना के भी विपरीत हैं। दास–प्री का समर्थन स्वतंत्रता और समानता की आधुनिक भावनाओं के बिल्कुल विपरीत है। इसे किसी अच्छे मस्तिश्क की उपज नहीं कहा जा सकता। ऐसे विचार मानवीय एकता को भी आघात पहुँचाते है। मुरे के अनुसार, श्अधिकांष व्यक्तियों की स्वाभाविक निम्नता में अरस्तू का विश्वास मानव के अधिकारों में वर्तमान विश्वास से बिल्कुल विपरीत है।

(7) जातिगत अहंकार से पूर्ण विचार – अरस्तू के विचार जातिगत अहंकार की भावना से भरे हुए है। जातिगत रक्षा के नाम पर दास प्रथा का समर्थन किया गया है। कुछ यूनानियों को उच्चता प्रदान कर उन्हें जन्म–जन्मान्तर तक स्वामी बनाने का शड्यंत्र भी इन विचारों से प्रतीत होता है। प्रो० थियोडोर सत्य कहते है कि, श्दासता के बचाव के नाम पर यहाँ जातिगत अहंकार की पुश्टि की गयी है ।

(8) आधुनिक युग में मान्य नहीं – यदि अरस्तू के दासता के विचारों को स्वीकार कर लिया जाये तो उत्पत्ति के साधनों के रूप में जितने श्रमजीवी कार्य करते हैं। वे सभी (कृशक, श्रमिक, हस्तषिल्पी आदि) दास समझे जायेंगे। अतः आत के युग में इस सिद्धान्त को कोई भी मान्यता नहीं देगा।

निश्कर्श इस प्रकार आज के वैज्ञानिक, प्रजातान्त्रिक, बुद्धिवादी और मानवतावादी विश्व में अरस्तू के दासता सम्बन्धी विचार बिल्कुल ही व्यर्थ तथा संस्थापद है। ऐसे विचारों की आज कोई भी कद्र नहीं की जा सकती। इन विचारों में घोर स्वार्थपरता, जातिगत अभियान तथा शड्यन्त्र की पूरी–पूरी गंध आती है। इसमें न केवल अरस्तू की रूढ़िवादिता दिखाई देती है वरन् उसका जातिगत अहंकार भी स्पश्ट होता है। इबन्स्टीन के अनुसार, श्उसकी दासता सम्बन्धी स्वीकृति यह सिद्ध करती है कि किस प्रकार बुद्धिमान और महान दार्षनिक अपने समय की संस्थाओं का और उन पक्षपातों का बन्दी होता है जो उन संस्थाओं को तर्क द्वारा औचित्यपूर्ण बतलाती है।

मैक्लेवन अरस्तू के दासता सम्बन्धी विचारों की निरर्थकता को स्पश्ट करते हुए कहते हैं कि. श्यदि हम इस सिद्धान्त का जीवन के तथ्यों या स्वयं अरस्तू के तर्कों के आधार पर मूल्यांकन करें तो इसका खोखलापन स्पश्ट हो जायेगा ।

क्रान्ति संबंधी विचार ने स्वयं इस के समय में अरस्तू के राज्यों में बहुत अस्थिरता व्याप्त थी । अरस्तू यूनान राजनीतिक अस्थिरता के दुश्परिणाम देखे थे। अतः उसने इस अस्थिरता को दूर करने के उपाय बताये हैं। उसने 158 देषों के संविधानों का अध्ययन करने के बाद परिपक्व राजनीतिक बुद्धिमत्ता के आध र पर यह विवेचन प्रस्तुत किया। सेवाइन के अनुसार, श्इस विशय से सम्बन्धित पॉलिटिक्स के पश्ठ उसकी राजनीतिक सूझबूढ एवं यूनानी नगर राज्यों के भाासन का अधिकार पूर्ण ज्ञान प्रकट करते हैं ।

क्रान्ति का अर्थ – अरस्तू के अनुसार, श्राज्य, संविधान या भासन सत्ता में होने वाला प्रत्येक परिवर्तन क्रान्ति है ।

अरस्तू ने अपने ग्रन्थ ष्पॉलिटिक्स के सातवें भाग में राज्य क्रान्ति और संविधान परिवर्तन सम्बन्धी बातों की विवेचना की है। उसने क्रान्ति के कारणों, उसके रोकने के उपायों आदि का भी वर्णन किया है। अरस्तू ने संविधान तथा भाासन सत्ता में होने वाले प्रत्येक परिवर्तन को क्रान्ति कहा है । इस प्रकार इस अर्थ में रूसी और फ्रांसीसी क्रान्ति अरस्तू की क्रान्ति नहीं समझी जानी चाहिए। उसकी क्रान्ति परिवर्तन का नाम है।

अरस्तू के मतानुसार क्रान्ति – अरस्तू के मतानुसारं क्रान्ति के तीन रूप हैं–

(1) भासन व्यवस्था का परिवर्तन – पहले से स्थापित भाासन–व्यवस्था के स्थान पर दूसरी व्यवस्था स्थापित करना क्रान्ति है। जैसे– धनिक तंत्र के स्थान पर प्रजातंत्र की स्थापना करना। (2) रूप सुधार – अरस्तू एक भाासन व्यवस्था के रूप सुधार को भी क्रान्ति कहता है। किसी भासन–व्यवस्था या संविधान में कमी वेषी कर देना, उसमें घटा–बढ़ी कर देना भी क्रान्ति ही है । उदाहरण के लिए, जनतन्त्र के वर्तमन स्वरूप को कम अथवा अधिक करने की प्रक्रिया को भी क्रान्ति कहा गया है।

(3) पदाधिकारियों का परिवर्तन – भाासन के मूल रूप में परिवर्तन किये बिना भासकीय पदाधिकारियों का भी परिवर्तन किया जाता है तो उसे भी अरस्तू क्रान्ति कहता है।

क्रान्ति के कारण – अरस्तू ने क्रान्ति के कारणों पर व्यापक रूप से विचार किया है। उसने क्रान्ति के कारणों को तीन भागों में बाँटा है– (क) सामान्य कारण (ख) विषेश कारण । (ग) विषेश प्रकार की भाासन प्रणालियों में क्रान्ति के विषेश कारणं ।

(क) सामान्य कारण

क्रान्ति के सामान्य कारण निम्नांकित हैं

(1) विशमता – विशमता के कारण क्रान्ति का जन्म होता है। छोटे और असमर्थ वर्ग बराबर होने के लिए क्रान्ति करते है । बराबर स्थिति के लोग और बड़ा होने के लिए विद्रोह करते है। ये क्रान्ति के कारण बनती है। डनिंग के अनुसार, श्अरस्तू क्रांतिकारी आन्दोलनों का सबसे अधिक सामान्य कारण मनुश्य की समानता की लालसा को ही पाता है ।

(2) अन्याय राज्य न्याय तथा मित्रता के आधार पर स्थिर रहता है। जब अन्याय, दुर्भावना, असन्तोश आदि विघटनकारी कार्य होने लगते हैं तो क्रान्ति होती है। जब एक वर्ग को अपनी आवष्यकताओं को पूरा करने में बहुत कठिनाई होती है तो क्रान्ति का मार्ग

कठिनाई होती है तो क्रान्ति का मार्ग खुलता है। एक वर्ग को यदि उसकी आषाओं से अधिक मिलता है तो भी क्रान्ति होती है। चूंकि न्याय और मित्रता राज्य के नैतिक आधार हैं इसलिए अन्याय और दुर्भावना असन्तोशक और अस्थिरता के सबसे बड़े कारण हैं।

(ख) विषेश कारण–– क्रान्ति के विषेश कारण निम्नांकित हैं–

(1) घष्णा– जब समाज का धनिक वर्ग गरीबों से घणा करने लगता है और उन्हें नीची दृश्टि से देखने लगता है तो स्वाभाविक रूप से क्रान्ति के लिए जमीन तैयार होती है।

(2) मय भय व्यक्तियों को दो प्रकार से क्रान्ति के लिए प्रेरित करता है। हले वे जो अपराध से बचना चाहते हैं और दूसरे वे जो अन्याय का जबाव देना चाहते हैं।

(3) प्रमाद और आलस्य – जब प्रमाण और आलस्य के कारण जनता अयोग्य व्यक्तियों को भाासनरूढ़ कर देती है और वे सत्ता के प्रति निश्ठावान नहीं रहते और भाक्ति संचय तथा स्वार्थ में लगे रहते हैं तो क्रान्ति उदय होती है ।

(4) अनुचित सम्मान

जब व्यक्तिओं को अनुचित सम्मान प्राप्त होता है तब भी क्रान्ति जन्म लेती है। जिन व्यक्तियों में योग्यता नहीं होती और उन्हें सम्मान अधिक मिल जाता है तो योग्य व्यक्तियों के सम्मान को ठेस लगती है और ऐसी दषा में क्रान्ति पनपती है ।

(5) उच्च वर्गीय शड्यन्त्र जब उच्च वर्ग अन्य जनों को नीचा समझता है और स्वयं सत्ता – प्राप्ति के शड्यन्त्र में लग जाता है तो भी संघर्श बढ़ता है और क्रान्ति पनपती है।

(6) विजातीय तत्व –– जब राज्य में विकास करने वाले विजातीय तत्व समुदाय के साथ अपना भावात्मक सम्बन्ध में स्थापित नहीं कर पाते तो वे बहारी भानुओं से साँठ–गाँठ करके क्रान्ति को पैदा करते हैं।

(7) छोटी–छोटी घटनायें कभी–कभी छोटी–छोटी घटनायें भी क्रान्ति को जन्म देती हैं। जैसे–एक बार साइराक्रूज में दो कुलीनों के संघर्श के कारण ही क्रान्ति हो गई थी ।

(8) सन्तुलित व्यवस्था – व्यवस्था का अधिक सन्तुलन भी क्रान्ति पनपाता है। जब समाज के वर्गों में सन्तुलन रहता है तो उनमें परस्पर प्रतियोगिता बढ़ती है। उसमें सत्ता हथियाने की होड़ लगती है, जिससे संघर्श होता है।

(9) श्रेश्ठता की भावना – जब समाज में कुछ लोग दूसरे लोगों की तुलना में अपने को श्रेश्ठ समझने लगते हैं, राज्य की प्रभुसत्ता का प्रयोग अपने स्वार्थी में करते हैं, तो वे राज्य में क्रान्ति के बीज बो देते हैं, क्योंकि जनता ऐसी भासन प्रणाली को अधिक दिनों तक स्वीकार नहीं कर सकती

(10) भाासकों की धष्टता

अरस्तू का मत है कि जब भाासक वर्ग उदण्ड या धष्ष्ट होकर जनहित की अपेक्षा करते हुए व्यक्तिगत लाभ के मोह में फँस जाता है तो जनता ऐसे भाासकों और उस संविधान के विरूद्ध हो जाती है जिसके कारण यह सब सम्भव होता है और क्रान्ति कर देती है ।

(11) राज्य के किसी वर्ग में असाधारण वष्द्धि जब राज्य के सभी वर्गों का समानुपातिक विकास नहीं होगा तो राज्य का रूप बिगड़ जायेगा और क्रान्ति होगी। जैसे– प्रजातंत्र में निर्धनों की संख्या बहुत बढ़ जाती है। आगे चलकर यह वर्ग अभाव के कारण सत्तारूढ़ वर्ग के विरुद्ध क्रान्ति कर देता है।

(12) निर्वाचन सम्बन्धी शड्यन्त्र – अरस्तू के मतानुसार क्रान्ति तब भी हो जाती है जब निर्वाचनों में बेईमानी होती है और निर्वाचनों द्वारा सही लोकमत को अभिव्यक्त नहीं होने दिया जाता है ।

(13) छोटे–छोटे परिवर्तनों की अवहेलना – कभी–कभी छोटे परिवर्तनों की और ध्यान मे देने से भी क्रान्ति हो जाती है। अरस्तू के भाब्दों में, श्जिस प्रकार युद्ध क्षेत्र में खाई को पार करने में, चाहे वह कितनी ही छोटी क्यों न हो, सेना का तित्तर–बितर हो जाना पड़ता है, उसी प्रकार राजा में प्रत्येक प्रकार का अन्तर (छोटे बड़े, गरीब–अमीर का भाासकों व भासितों का) संघर्श पैदा कर देता है।

(14) मध्यन वर्ग का अभाव – यदि किसी राज्य में मध्यम वर्ग नहीं है तो अमीरों व गरीबों की खाई बढ़ते–बढ़ते क्रान्ति का रूप ले लेती है ।

(ग) विषेश प्रकार की भासन प्रणालियों में क्रांन्ति के कारण प्रणालियों में क्रान्ति के कारण इस प्रकार है–

विभिन्न भाासन

(1) प्रजातन्त्र में क्रान्ति जोषीले और लच्छेदार भाशण करने वाले नेता लोग सस्ती लोकप्रियता के आधार पर सत्ता हथिया लेते हैं। वे अपनी बातों से लोगों को मूर्ख बनाया करते हैं और अपना स्वार्थ पूरा किया करते हैं।

(2) अधिनायकतन्त्र में क्रान्ति – अधिनायकतन्त्र में दो कारणों से क्रान्ति होती है–– (1) जब भाासकों का जनता के प्रति अन्याय अधिक बढ़ जाता है । (2) जब सत्ताधारी पक्ष में परस्पर फूट और दलबन्दी बढ़ जाती है।

(3) कुलीनतन्त्र में क्रान्ति – कुलीनतंत्र में क्रान्ति के तीन कारण होते हैं– (1) जब पद तथा प्रतिश्ठा को सीमित कर दिया जाता है। (2) जब भाक्तिषालियों की महत्वाकांक्षाएँ बढ़ जाती हैं। (3) जब विभिन्न वर्गों के मध्य सामंजस्य समाप्त हो जाता है।

(4) राजतंत्र में क्रान्ति – राजतंत्र में अरस्तू क्रान्ति के तीन कारण बताता है– (1) जब भाासन का जनता के प्रति व्यवहार असामान्य हो जाता है। (2) जब प्रतिश्ठित व्यक्ति का अपमान होता है। (3) जब पड़ोस का विरोधी राज्य अपनी चालबाजियाँ षुरू कर देता है।

मैक्सी के अनुसार, श्इसमें सन्देह नहीं कि अरस्तू की दृश्टि क्रान्ति के मूल कारणों तक पहुंच गई है। उसके द्वारा गिनाये गये एक या अधिक कारण अब तक हुई प्रत्येक राजनीतिक क्रान्ति में देखे जा सकते हैं।

क्रान्ति के प्रतिकारक के उपाय

मैक्सी का कथन है कि, श्अरस्तू ने जितने अच्छे ढंग से क्रान्ति के कारणों पर प्रकाष डाला है, उतने ही अच्छे ढंग से उसने निराकरण के उपाय भी बताए हैं।श अरस्तू ने क्रान्ति के प्रतिकारक के मुख्य रूप से दो उपाय बताए हैं– (1) सामान्य उपाय तथा (2) विषेश उपाय

(1) सामान्य उपाय

भासिक तथा भासित में सौहार्दपूर्ण तथा तनाव रहित सम्बन्ध होने चाहिए।

नागरिकों को संविधान की भावना के अनुसार प्रषिक्षित किया जाना चाहिए। कानूनों का पालन करने की आदत आनी चाहिए।

राजकीय सत्ता पर एक वर्ग या व्यक्ति का अधिकार नहीं होना चाहिए। राज्य कर्मचारियों का कार्यकाल लम्बा नहीं होना चाहिए और लोगों को बारी–बारी से सरकारी पदों पर आसीन होने का अवसर प्राप्त होना चाहिए। पुरस्कारों, पदों तथा सम्मानों का विस्त त वितरण होना चाहिए।

(5) भाासन में भ्रश्टाचार नहीं होना चाहिए। पदाधिकारियों को अपने पदों का अनुचित लाभ नहीं उठाने देना चाहिए।

(6). विभिन्न वर्गों के मध्य सन्तुलन रहने से भी राजनीतिक सन्तुलन बना रहता है। भाासन का कार्य विरोधी गुणों के व्यक्तियों को दिया जाना चाहिए । धनियों का धन तथा गरीबों के अधिकार सुरक्षित रहने चाहिए। मध्यम वर्ग की भाक्ति को बढ़ाया जाना चाहिए।

(7) विदेषी लोगों को उच्च पदों पर नियुक्त नहीं किया जाना चाहिए, अन्यथा वे कभी भी राजनीतिक संकट पैदा कर देंगे।

(8)हमें घटनाओं के प्रति उदासीन नहीं रहना चाहिए, क्योंकि कभी–कभी छोटी सी घटना बड़े विस्फोट का कारण बन सकती है।

(9) बाहरी आक्रमण का भय दिलाते रहने से राश्ट्रीय एकीकरण बना रहता है और एकता की भावना का विकास होता है।

विषेश उपाय

मिश्रित संस्कारों में राजनीतिक परिवर्तन की दिषा में काम करने वाली प्रव त्तियों पर ध्यान रखा जाना चाहिए ।

(2) कुलीनतंत्र तथा क्रेपीतंत्र में निम्न वर्गों के साथ अच्छा व्यवहार किया जाना चाहिए। प्रजातंत्र में सामान्य प्रषासकीय कार्यों का संचालन निम्न वर्ग के हाथों में छोड़ दिया जाना

चाहिए। धनिक वर्ग के पास ऐसे कार्य रहने चाहिये, जिससे वर्गीय असन्तोश न पनपने पाये

(4) निरंकुष भाासन में क्रान्ति का भय दूर करने के लिए नीचे लिखे उपाय किये जाने चाहिए–

(क) स्त्रियों को जासूसी कार्य दिया जाना चाहिए।

(ख) नारिकों का बौद्धिक जीवन समाप्त कर दिया जाना चाहिए।

(ग) अपराधियों को दण्ड मिलना चाहिए।

(घ) पुरस्कारों का उचित वितरण होना चाहिए।

(ड.) जनता बाहरी आक्रमण के भय से ग्रस्त रहना चाहिए।

(च) भाासक को स्वयं भी आक्रमण की नीति अपनाते रहना चाहिये।

(छ) धार्मिक कार्यों के प्रति उत्साह दिखाया जाना चाहिए।

(ज) भाासक को अपनी वासनाओं पर नियंत्रण रखना चाहिए।

स्पश्ट है कि अरस्तू ने न केवल क्रान्तियों के कारण बताये हैं, वरन उनसे बचने के उपाय भी बताये हैं। उसके ये विचार मौलिक, व्यवहारिक, वास्तविक भाश्वत और व्यापक हैं। अरस्तू के अलावा आज तक किसी भी विचारक ने क्रान्ति पर इतने व्यापक व स्पश्ट विचार व्यक्त नहीं किये हैं।

मैक्सी के भाब्दों में, श्राजनीतिक विज्ञान क्रान्ति रूपी विश का प्रतिकार करने के लिए इससे अधिक विश्वसनीय उपायों का निर्देष नहीं कर सकता।

अरस्तू के क्रान्ति सम्बन्धी विचार आधुनिक राज्यों के सन्दर्भ में भी उपयोगी है। राज्य सम्बन्धी विचार

अरस्तू को राजनीतिक चिन्तन का जनक कहा जाता है। उसने राजनीति के अलावा ज्ञान के प्रत्येक क्षेत्र में कुछ न कुछ लिखा है। इस प्रकार उसका विस्त त ज्ञान आगे की पीढ़ियों के लिए एक महान देन के रूप में स्वीकार किया जाता है। यह कड़ा जाता है कि यूनानी दर्षन का जो बीज सुकरात ने बोया था, वह लता की भांति प्लेटो में आकर फैला और वह अरस्तू के दर्षन में पुश्प की भांति खिल उठा। उसके विशय में दान्ते ने कहा है किकृ वह बुद्धिमानों का गुरू था।

पॉलिटिक्स अरस्तू का अनुपम ग्रन्थ है। अरस्तू ने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ पॉलिटिक्स का प्रारमी राज्य से ही किया है। वह राज्य को एक ऐसा राजनीतिक समुदाय मानता है, जो दूसरे सभी समुदाय से श्रेश्ठ है तथा जो व्यक्ति के सर्वश्रेश्ठ हित की कामना करता है ।

अरस्तू अपने गुरू प्लेटो की भांति सोफिस्ट वर्ग के इस विचार का विरोध करता है कि राज्य एक क त्रिम संस्था है जिसका निर्माण व्यक्तियों ने अपने स्वार्थी और हितों की पूर्ति के लिए किया है तथा उसका अपने नागरिकों की भात्ति पर कोई वास्तविक अधिकार नहीं है। अरस्तू

का मत हैं कि व्यक्ति अपनी प्रकृति से ही राजनीतिक प्राणी है और राज्य व्यक्ति की इसी प्रकृति का ही परिणाम है। अरस्तू के भाब्दो में, श्मनुश्य स्वभाव से ही एक राजनीतिक प्राणी है। जो व्यक्ति समाजष् में रहने में असमर्थ है या जिसके आत्मनिर्भर रहने के कारण राज्य की आवष्यकता नहीं, वह या तो पषु है या देवता ।

अरस्तू के राज्य सम्बन्धी विचारों की विवेचना कुछ उपषीर्शकों के अन्तर्गत अधिक स्पश्टतः की जा सकती है। ये उपषीर्शक इस प्रकार है––

(1) राज्य की उत्पत्ति – अरस्तू ने राज्य को एक प्राक तिक संस्था माना है। उसकी दृश्टि में राज्य स्वाभाविक है। उसका निर्माण किसी व्यक्ति या व्यक्तियों के समूह द्वारा नहीं होता है। अरस्तू के भाब्दों में, श्राज्य की उत्पत्ति मानवीय आवष्यकताओं में होती है, किन्तु बाद में राज्य श्रेश्ठ जीवन के लिए बना रहता है । सर्वप्रथम विवाह पद्धति के आधार पर मानव ने पहली सामाजिक संस्था कुटुम्ब की स्थापना की जिसमें पति, पत्नी, सन्तान और दास एक साथ रहते हैं। कौटुम्बिक व्यवस्था में हमें राज्य का स्वरूप दिखाई देता है क्योंकि कुटुम्ब का स्वामी भासक के रूप में कार्य करता है। कुटुम्ब स्वाभाविक समुदाय है। वह सन्तानोत्पत्ति और सुरक्षा की आवष्यकताओं को पूरा करता है । परन्तु मनुश्य केवल सुरक्षा ही नहीं चाहता उसकी अन्य भौतिक तथा आध्यात्मिक आवष्यकताएँ हैं। इसलिए कुछ कुटुम्ब मिलकर गांव का निर्माण करते हैं लेकिन ग्राम भी व्यक्ति की सभी आवष्यकताओं की पूर्ति नहीं कर पाते। अतः ग्रामों के सम्मिलन से नगर राज्य का जन्म होता हे। नगर राज्य व्यक्तियों का अंतिम, पूर्ण एवं श्रेश्ठतम समुदाय है।

इस प्रकार अरस्तू के अनुसार राज्य की उत्पत्ति का आधार परिवार तथा गावं है । अरस्तू के भाब्दों में, श्राजय एक पूर्ण और आत्मनिर्भर परिवारों तथा गांवों का एक समूह है जिसका उद्देष्य एक सुखी और सम्मानपूर्ण जीवन है ।

(2) राज्य का विकास – अरस्तू राज्य को प्राकतिक संस्था मानकर उसका विकास होता हुआ मानता है। राज्य का विकास बतलाने के लिए अरस्तू ने अनुमान पद्धति का सहारा लिया है। अरस्तू के अनुसार राज्य और व्यक्ति का सम्ध सर्वाधिक है। जिस प्रकार भारीर और भारीर के अंगों का अटूट सम्बन्ध है। राज्य और व्यक्ति का सम्बन्ध अटूट है। जिस प्रकार मानव भारीर में हाथ, पैर, हृदय आदि अनेक अंग हैं। उसी प्रकार राज्य के अंग परिवार, ग्राम आदि हैं, जो भारीर के अंगों के समान अपने निष्चित कार्य करते रहते हैं। अरस्तू का विचार है कि राजनीतिक विकास जैविक विकास है। राज्य पहले से ही ग्राम परिवार तथा व्यक्ति के रूप में भ्रूणावस्थ में होता है तथा आरम्भ से लेकर अन्त तक विभिन्न रूपों को धारण करता है। राज्य परिवार का ही वष्हत रूप है।

(3) राजय की प्रकृति – राज्य की प्रकृति के सम्बन्ध में अरस्तू का कथन है कि – (1) राज्य का अस्तित्व व्यक्ति से प्रथम है तथा राज्य एक प्राकृतिक संस्था है। (2) व्यक्ति एक राजनीतिक प्राणी है। (3) राज्य की उत्पत्ति मानव जीवन के लिए प्रसाधनों को जुटाने के लिए हुई है ।

अरस्तू ने लिखा है कि, श्राज्य प्रकृति की सृश्टि है और मनुश्य प्रकृति से ही एक राजनीतिक प्राणी है।श इस प्रकार, अरस्तु राज्य को एक प्राक तिक संस्था मानता है। बॉर्कर के भाब्दों में, श्अरस्तू के अनुसार राज्य को प्राक तिक बनाने वाला तथ्य यह है कि चाहे उसका जन्म

किसी प्रकार हुआ हो, नैतिक पूर्णता की ओर मानव स्वभाव की अन्तरस्थ प्रकृति ही मनुश्यों को समाज के विभिन्न रूपों में से गुजरते हुए अन्ततः राजनीति तक पहुंच जाने के लिए उत्प्रेरित करती है ।श अरस्तू क मत है कि, प्रकृति द्वारा स्थापित प्रथम स्वाभाविक संगठन परिवार है, परिवारों से मिलकर गांव बनता है और अन्त में बहुत से गांव मिल जाने पर जो समाज बनता है, वही राज्य है। अरस्तू के अनुसार, श्यदि प्रारम्भिक समाज प्राक तिक (स्वाभाविक) थे तो सब राज्य भी स्वाभाविक हुए क्योंकि यह उन्हीं का चरम विकास तो है। किसी वस्तु का चरम विकास ही उसका स्वभाव होता है।

राज्य की विषेशताएं

अरस्तू के मतानुसार राज्य की प्रमुख विषेशताएँ निम्नांकित हैं–

(1) राज्य एक स्वाभाविक संस्था – प्लेटो की भांति अरस्तू भी राज्य को एक स्वाभाविक संस्था मानता है। वह राज्य को किसी समझौते का परिणाम नहीं मानता है। उसने सोफिस्टों के इस विचार का भी खण्डन किया कि राज्य एक क त्रिम संस्था है। अरस्तू का मत है कि मनुश्य एक राजनीतिक व सामाजिक प्राणी है तथा राज्य एक स्वाभाविक समुदाय है। चूंकि राज्य परिवार का वष्हत रूप है अतः यह भी वैसे ही स्वाभाविक है जैसे कि परवार । व्यक्ति के विकास का जो कार्य परिवार में प्रारम्भ होता है, उसकी पूर्व सिद्धिं राज्य में ही की जा सकती है। अतः राज्य सामाजिक जीवन के विकास की अन्तिम अवस्था है। फोस्टर के भाब्दों में, श्अरस्तू की पॉलिटिक्स के दृश्टिकोण से राज्य केवल इसलिए स्वाभाविक नहीं है कि वह मनुश्य की भौतिक आवष्यकताओं की पूर्ति करता है वरन इस अर्थ में भी स्वाभाविक है कि वह मनुश्य के बौद्धिक विकास के लिए पोशक तत्व और पर्यावरण प्रदान करता है ।

सेबाइन के अनुसार, श्जिस प्रकार बेजुफल के लिए वैजु वक्ष में विकसित होना स्वाभाविक है उसी प्रकार मानव प्रकृति की उच्चतम भाक्तियों का विकास राज्य में होना स्वाभाविक है

(2) राज्य एक सर्वोच्च समुदाय – अरस्तू राज्य को एक समुदायों का व हत् समुदाय ही नहीं मानता, अपितु उसे एक सर्वोच्च समुदाय मानता है। राज्य अन्य समुदायों से ऊँचा है। अन्य समुदाय संकीर्ण होते हैं तथा सीमित हितों की रक्षा करते हैं, जबकि राज्य सबका हित देखता है। वह व्यक्ति की नैतिक, आध्यात्मिक, बौद्धिक, भौतिक आदि सभी आवष्यकताओं की तप्ति करता है। राज्य का उद्देष्य व्यक्ति को सर्वगुण सम्पन्न बनाना है।

(3) राज्य मनुश्य से पूर्ववर्ती अरस्तू के अनुसार राज्य मनुश्य से पहले हैं। वह मनोवैज्ञानिक रूप से राजय को मनुश्य से पहले मानता है। वह राज्य को पूर्णता का प्रतीक मानता है। व्यक्ति तो उसका अंग मात्र हैं। यदि राजय भारीर है तो व्यक्ति उसके अवयव हैं पूर्णता पहले आती है, उसके बाद में अंग इसलिए राज्यं व्यक्ति से पूर्ववर्ती है। मनुश्य के बौद्धिक विकास की पूर्ण कल्पना के रूप में राज्य का जन्म व्यक्ति, परिवार और ग्राम के अस्तित्व में आने से पूर्व ही हो चुका था । अरस्तू के भाब्दों में, "समय की दृश्टि से परिवार पहले है परन्तु प्रकृति की दृश्टि से राज्य पहले हैं ।

(4) राज्य साधन नहीं, साध्य – अरस्तू ने राज्य को साध्य माना है। राज्य एक घोंसला हैं जो पोशण करता है, पिंजरा नहीं जो बाधा डालता है। इस प्रकार राज्य व्यक्ति के व्यक्तित्व

की अभिपूर्ति है। व्यक्ति को राज्य रूपी साध्य की सुरक्षा का हर प्रयास करते रहना होगा

(5) राजय एक आध्यात्मिक समुदाय राज्य एक आध्यात्मिक समुदाय है। उसका उद्देष्य नकारात्मक नहीं है। वह तो सर्वोच्च अंच्छाइयों का प्रदान करने वाला है। वह केवल बुराइयों को नहीं रोकता, अपितु अच्छाइयों को सिखाता है। राज्य व्यक्ति की तरह ही नैतिक है।

(6) राज्य एक सावयव राज्य का पूर्ण सावयव (आंगिक) है। वह एक पूर्ण इकाई हैं जो सम्बन्ध भारीर और उसके अंगों में है, वहीं सम्बन्ध राज्य और व्यक्ति में है । जिस पकार एक अवयव भारीर नहीं कहलाता, उसी प्रकार एक व्यक्ति राज्य नहीं कहा जा सकता है। राज्य से अलग व्यक्ति का कोई महत्व नहीं है। राज्य की संजीवनी भावित ही राज्य के अन्य अंगों को जीवन भाक्ति प्रदान करती है।

व्यक्ति अपना पूर्ण विकास राज्य में ही रहकर कर सकता है। इबन्स्टीन के अनुसार, श्अरस्तू ने अपने इस विचार के आधार पर राज्य की जैविक धारणा की नींव रखी है।

(7) राज्य एक आत्मनिर्भर संगठन – अरस्तू राज्य को एक आत्मनिर्भर संगठन मानता है। वह कहता है कि, श्राजय परिवार तथा ग्रामों का एक संगठन है, जिसका उद्देष्य पूर्ण तथा आत्मनिर्भर जीवन की प्राप्ति है।श अरस्तू ने आत्मनिर्भरता के लिए आंतरक्रिया भाब्द का प्रयोग किया है, जिसका अर्थ पूर्ण निर्भरता है। बार्कर अरस्तू के आत्मनिर्भरता भाब्द का अभिप्राय स्पश्ट करते हुए कहते हैं कि श्आत्मनिर्भरता का अर्थ है– राज्य में ऐसे भौतिक साधनों और नैतिक प्रेरेणाओं एवं भावनाओं की उपस्थिति, जो किसी प्रकार की बाह्य भौतिक या नैतिक सहायता पर निर्भर हुए बिना पूर्ण मानव विकास को सम्भव बनायें।श इस प्रकार, अरस्तू का आत्मनिर्भरता से अर्थ यही है कि व्यक्ति राज्य में रहकर ही अपनी दैनिक आवष्यकताओं की पूर्ति के अतिरिक्त बौद्धिक तथा आध्यातिमक गुणों को भी प्राप्त कर सकता है। चूँकि राज्य में व्यक्ति को किसी प्रकार का अभाव नहीं रहता है इसीलिए इसे आत्मनिर्भर संगठन कहा गया है।

(8) नगर राज्य सर्वाधिक श्रेश्ठ राजनीतिक संगठन अरस्तू प्लेटो की भांति नगर राज्य के रूप में ही किया है। अरस्तू का यह नगर राज्य समस्त विज्ञान, कला, गुणों तथा पूर्णता में साझेदारी है।

राज्य के कार्य तथा उद्देष्य

अरस्तू ने राज्य के कार्य तथा उद्देष्यों की विवेचना. निम्नांकित रूपों में की है–

(1) श्रेश्ठ जीवन प्राप्त करना श्रेश्ठ जीवन की प्राप्ति हेतु राज्य आवष्यक है। राज्य एक ऐसा नैतिक संगठन है जो श्रेश्ठ जीवन की प्राप्ति में सहायक बनता है। राज्य का कार्य अपने सदस्यों की अधिकाधिक भलाई करना है। स्वामी के सम्पर्क में आकर दास नैतिक गुणों को प्राप्त करने में समर्थ बनता है । दास अपने आपके लिए भी लाभकारी है। राज्य रूपी स्वामी द्वारा ही दास का जीवन श्रेश्ठ बनता है। अरस्तू के भाब्दो में, श्राज्य की सत्ता उत्तम जीवन के लिए है, न कि केवल जीवन व्यतीत करने के लिए।

(2) नैतिक जीवन प्राप्त करना—– राज्य का कार्य है कि वह ऐसी व्यवस्था करे कि व्यक्ति को नैतिक जीवन की प्राप्ति सुलभ हो सके। वह राज्य के कार्य न्याय और सुरक्षा तक ही सीमित नहीं रखता। वह तो राज्य से नकारात्मक और सकारात्मक दोनों प्रकार के कार्यों की अपेक्षा करता है । वह कहता है कि मानव जीवन सुख के लिए नैतिक कार्य आवष्यक है। राज्य का उद्देष्य केवल अपराधों को रोकना नहीं है, अपितु नागरिकों को सच्चरित्र बनाना भी है। जब नागरिक सच्चरित्र बनेंगे तो अपराध भी कम होंगे।

(3) सदगुणों का विकास करना अरस्तू कहता है कि व्यक्ति में गुण और दोश दोनों पाये जाते हैं। राज्य ऐसे कार्य करता है कि जिनमें दोनों का निराकरण हो और व्यक्ति में सदगुणों का विकास हो । राज्य व्यक्ति के सदगुणों का विकास करने वाली संस्था होने के कारण ही वह आध यात्मिक संस्था कहलाया है।

निश्कर्श – इस प्रकार अरस्तू के अनुसार राज्य व्यक्ति की सामाजिकता का परिणाम है। सामाजिक जीवन अन्य जीवधारियों में पाया जाता है। परन्तु व्यक्ति विचारषील तथा विवेकषील प्राणी है। अतः उसकी सामाजिकता अन्य जीवधारियों से भिन्न है। व्यक्ति की सामाजिकता की सम्पूर्ति राज्य के अन्तर्गतम ही हो पाती है और इस प्रकार राज्य व्यक्ति से अभित्र बन जाता है, यहाँ तक कि वह साध्य हो जाता है।

इकाई – 3 संविधानों के वर्गीकरण का सिद्धांत

संविधान का वर्गीकरण

अरस्तू ने अपने संविधान सम्बन्धी विचारों को अपने ग्रंथ ष्पॉलिटिक्सष के तीसरे तथा चौथे

• भागों में प्रस्तुत किया है। अरस्तू ने संविधान और सरकार दोनों को पर्यायवाची भाब्द माना है। अरस्तू के अनुसार संविधान वह आधारषिला है जिस पर राज्य रूपी भवन का निर्माण किया जाता है। अपने संविधान की व्याख्या करने से पूर्व 158 देषों के संविधानों का अध्ययन किया था और उसके पष्चात् आदर्ष संविधान के गुणों का विवेचन किया था । अरस्तू द्वारा संविधानों का जो वर्गीकरण किया गया है, वह उसके द्वारा प्रस्तुत सिद्धान्तों, विषेशताओं तथा गुण–दोशों के आधार पर हैं।

संविधान की परिभाशा – अरस्तू ने संविधान के लिए यूनानी भाब्द पॉलिरिया (च्वसमजपं) का प्रयोग किया है जिसका अंग्रेजी अनुवाद है– कॉन्सटीट्यूषन । संविधान की परिभाशा करते हुए अरस्तू का कथन है कि श्संविधान या पोलिटी राज्य का एक ऐसा संगठन है, जिसका सम्बन्ध सामान्यतः राज्य के पदों के निर्धारण से है और विषेशकर ऐसे पद के निर्धारण से है जो समस्त राजनीतिक मामलों में सर्वोच्च हो ।श

परिभाशा का विष्लेशण – इस परिभाशा से संविधान के विशय में कुछ बातें स्पश्ट होती है–

संविधान राज्य या उसके पदों का संगठन है।

1.संविधान सर्वोच्च सत्ता के निवास को निर्धारित करता है।

2.संविधान राज्य के लक्ष्य को भी बताता है।

संविधान राज्य के लिए आवष्यक है। इसी के आधार पर उनका निर्माण और अन्त।

संविधान राज्य का आधार है तथा उसके परिवर्तन के साथ राज्य का स्वरूप बदल जाता है ।

संविधानों के वर्गीकरण के सिद्धान्त

अरस्तू द्वारा प्रस्तुत संविधानों का वर्गीकरण उसकी मौलिक देन नहीं कहा जा सकता। क्योंकि प्लेटो ने भी अपनी रचना ष्स्टेट्समैनष में राज्यों का वर्गीकरण प्रस्तुत किया है। किन्तु राज्य या संविधानों का वैज्ञानिक वर्गीकरण सर्वप्रथम अरस्तू के द्वारा ही किया गया है। अरस्तू का वर्गीकरण जिन सिद्धान्तों पर आधारित है, वे निम्नलिखित प्रकार हैं

इसका तात्पर्य है कि भाासकीय सत्ता का सूत्र कितने व्यक्तियों के हाथ में रहेगा। भाासकों की संख्या के आधार पर उसने संविधान को तीन भागों में बाँटा है– (1) एक व्यक्ति का भाासन, (2) कुछ व्यक्तियों का भासन, (3) बहुसंख्यकों का भासन ।

1. संख्या

2. उद्देष्य – राजा का उद्देष्य सार्वजनिक हित है या स्वार्थ साधन द्य उद्देष्य की दृश्टि से अरस्तू ने संविधान के दो भाग किये हैं––

(क) स्वाभाविक रूप इस रूप में राज्य की भाक्ति का प्रयोग सार्वजनिक हित में होता है । यह अच्छा रूप है।

(ख) विकृत रूप इस रूप में राज्य की भाक्ति का प्रयोग व्यक्तिगत हित या स्वार्थ साध न के लिए किया जाता है। यह बुरा रूप है ।

संविधानों का वर्गीकरण

अरस्तू ने संविधानों का वर्गीकरण इस प्रकार किया है–

संख्या का आधार

भाासन करने वाले व्यक्तियों की संख्या

एक

अल्पसंख्यक

बहुसंख्यक

नैतिक आधार

सर्वोच्च सत्ता के संचालन का उद्देष्य

भाासन का विकृत रूप

भासन का स्वाभाविक रूप एकतंत्र या राजतंत्र (Monarchy)

कुलीनतंत्र (Aristocracy) बहुतंत्र या संवैधानिक तंत्र (Polity)

अनुसार निरंकुष तंत्र के बाद कुलीन तंत्र की स्थापना होनी चाहिए किन्तु रूस व भारत आदि देषों में निरंकुषतंत्र के बाद सीधे प्रजातंत्र की स्थापना है। इसी प्रकार अनेक राज्यों में राज्यों में राजतंत्र का स्थान सैनिक तंत्र ने ले लिया है।

7. प्रजातंत्र सम्बन्धी धारणा गलत – अरस्तू ने प्रजातंत्र को भीड़तंत्र का पर्यायवाची माना है। वह इसे सबसे अधिक अव्यवस्थित और अनियंत्रित भासन समझता है किन्तु वर्तमान समय में प्रजातंत्र का सर्वश्रेश्ठ भाासन पद्धति समझा जाता है। अतः प्रजातंत्र के सम्बन्ध में अरस्तू के विचार उचित नही है।

8. आधुनिक राज्यों पर लागू नहीं – अरस्तू द्वारा प्रस्तुत वर्गीकरण आधुनिक राज्यों के लिए उपयुक्त नहीं है। सीले के अनुसार, श्अरस्तू ने अपने काल के नगर राज्यों का वर्गीकरण किया था, जो आज के राश्ट्रीय एवं बहुराश्ट्रीय तथा विषालकाय राज्यों पर लागू नहीं होता हैं ।

अरस्तू के वर्गीकरण का महत्व – अरस्तू के वर्गीकरण की अनेक आलोचनाओं के बावजूद इस वर्गीकरण का महत्व है। वह सबसे पहला वैज्ञानिक वर्गीकरण है जो आधुनिक वर्गीकरण का मार्ग प्रषास्त करता है । राजनीति चिन्तक गिलक्राइस्ट के अनुसार श्आधुनिक सरकारों के स्वरूप के लिए यह वर्गीकरण पर्याप्त नहीं है, पर आज तक जितने भी वर्गीकरण हुए हैं, उनके लिए ऐतिहासिक उपहार रहा है।

गैरेल के अनुसार, श्अरस्तू का वर्गीकरण अपने पूर्वगामियों के विचारों पर आधारित हैं, परन्तु वह अधिक सही और स्पश्ट है । इसीलिए यह वर्गीकरण बिना किसी तात्विक परिवर्तन के आज तक चला आ रहा है।

अरस्तू के न्याय सम्बन्धी विचार

अरस्तू अपने गुरू प्लेटों की भाँति राज्य के लिए न्याय को आवष्यक मानता है। अरस्तू न्याय की सद्‌गुणों का समूह मानता है। उसका मत है कि व्यक्ति को न्यायप्रिय होने के लिए यह आवष्यक हैं कि वह समुदाय के अन्य सदस्यों के प्रति अपने नैतिक कर्तव्यों का पालन करें।

अरस्तू ने न्याय के दो रूप बताये हैं– (1) पूर्ण न्याय (2) विषेश न्याय ।

1. पूर्ण न्याय – अरस्तू के अनुसार नैतिक गुणों और चरित्र की श्रेश्ठता को ही पूर्ण न्याय कहा जाता है। इसका अर्थ यह है कि एक व्यक्ति दूसरे व्यक्तियों के साथ अपने सम्बन्धों में नैतिक गुणों का पालन करें। अरस्तू के पूर्ण न्याय की व्याख्या करते हुए कहा जा सकता है कि, श्परिवार में न्याय का अर्थ है स्वामी का दास पर या पति का पत्नि पर या घर के मालिक का सदस्यों पर स्वाभाविक भासन द्य गाँव में न्याय का अर्थ है सबसे सयाने पुरूश द्वारा गाँव के दूसरे लोगों का नेतृत्व । एक सक्षम राज्य में न्याय का अर्थ है षिक्षित, सभ्य और गुणवान व्यक्ति द्वारा अपने व अन्य लोगों पर उचित भाासन की व्यवस्था । श्अरस्तू के अनुसार, पूर्ण न्याय कानूनों के अनुरूप आचरण करने में ही निहित है ।

2. विषेश न्याय – इसका सम्बन्ध सद्‌गुण और भलाई के विषेश रूपों से है जिनके आध र पर हम दूसरों के साथ न्यायोचित व्यवहार करते हैं। अरस्तू विषेश न्याय को दो भागों में विभाजित करता है– (प) वितरणात्मक न्याय, (2) सुधारक न्याय ।

1. वितरणात्मक न्याय – वितरणात्मक न्याय का अभिप्राय यह है कि राज्य अपने नागरिकों के महत्व और योग्यता को दृश्टि में रखते हुए उनमें राजनीतिक पदों, सम्मानों, अन्य लाभों या पुरस्कारों का बंटवारा न्यायपूर्ण रीति से करे क्योंकि इनके विशम वितरण से राज्य में असन्तोश उत्पन्न हो जाता है, जो क्रांति को जन्म देता है। अरस्तू के भाब्दों में, श्राज्य के उद्देष्य की पूर्ति के लिए किये गये योगदान के अनुपात में प्रत्येक के द्वारा अधिकार की प्राप्ति ही वितरणात्मक न्याय है ।

2. सुधारक न्याय – सुधारक न्याय का अर्थ है– एक नागरिक का दूसरे नागरिक के साथ व्यवहार द्य यह एक नागरिक के दूसरे नागरिक के साथ सम्बन्ध को नियंत्रित करता है तथा राज्य के नागरिकों के पारस्परिक व्यवहार में जो बुराइयाँ उत्पन्न हो जाती है, उन्हें दूर करता है। जैसे– यदि कोई व्यक्ति को हानि पहुँचाता है तो राज्य हानि पहुँचाने वाले पक्ष को दण्डित करके इस त्रुटि को दूर करने का प्रयत्न करता है ।

अरस्तू का आदर्ष राज्य

अरस्तू ने अपनी प्रसिद्ध रचना पॉलिटिक्स की सातवी पुस्तक में आदर्ष राज्य का प्रतिपादनं किया है। इससे पूर्व प्लेटों ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक रिपब्लिक में आदर्ष राज्य का चित्रण किया है जो कि काल्पनिक तथा अव्यवहारिक है। इसीलिए वह अपनी अन्तिम पुस्तक लॉज में उसने एक उपादर्ष राज्य का चित्रण करता है, जिसमें वह दार्षनिक भासक के स्थान पर कानून की ही सर्वोपरि मानता है और यह स्वीकार किया है कि भाासक को भी कानून की अधीनता में रहना चाहिए। इसमें प्लेटों ने साम्यवाद का आदर्ष भी छोड़ दिया है।

अरस्तू ने अपने ग्रंथ पॉलिटिक्स में जिस आदर्ष राज्य का चित्रण किया है उसमें आदर्ष के व्यवहारिक सुन्दरतम् राज्य है। अरस्तू ने अपने रीतिरिवाज व जनमत के महत्व को भी स्वीकार किया है। वह प्लेटों के साम्यवाद को अस्वीकार करते हुए सम्पत्ति व परिवार को आवष्यक और उपयोगी बताता है ।

अरस्तू के आदर्ष राज्य को स्पश्ट करते हुए, प्रो० मैक्लवैन लिखते हैं कि, श्अरस्तू का सर्वश्रेश्ठ राज्य वह है जिसमें अनुकूल स्थितियों के होते हुए तीसरे प्रकरण में प्रतिपादित सिद्धान्त अधिक से अधिक लागू होते हैं। अरस्तू के अनुसार ऐसा राज्य न तो अमीर होगा और न ही गरीब यह बाह्य आक्रमण से सुरक्षित होगा, अधिक धनसंग्रह और व्यापार या सीमा विस्तार की इच्छा से वह दूर होगा। वह एकताबद्ध, धर्मषील, सुसंस्कत व संरक्षणीय होगा। वह महत्वाकांक्षाओं से परे होगा परन्तु विस्ततीत नही । वह एक सुसंगठित छोटा और स्वतंत्र नगर होगा जिसमें सर्वोच्च माक्ति एक अभिजात वर्ग के हाथ में होगी ।

अरस्तू द्वारा प्रतिपादित ष्आदर्ष राज्यष प्लेटों के लॉज मे बताये गये ष्उपादर्ष राज्यष के बहुत निकट है। इस सम्बन्ध में सेवाइन का कथन है कि, श्अरस्तू जिसे आदर्ष राज्य मानता है कि वह प्लेटो का उपदर्ष का द्वितीय सर्वश्रेश्ठ राज्य है । श्इस सम्बन्ध में प्रो० मैक्सी का मत है कि, श्प्लेटों का राज्य अमूर्त विचारों का एक ढाँचा है जिसे यथार्थ रूप दार्षनिक राजा देगा जो अपने सामने वर्तमान समस्त संस्थाओं को जड़ से उखाड़ फेंकेगा और सन्तति भास्त्र और षिक्षा द्वारा एक निर्दोश सामाजिक व्यवस्था में मनुश्यों की एक नवीन एवं श्रेश्ठतर जाति पैदा करेगा। अच्छी तरह समझा जा चुका है और जिसे कोई भी बुद्धिमान राजनीतिक प्रयोग कर सकता है । तो भी दोनों विचारकों में एक सा ही नैतिक योग हैं, एक

सी ही व्यवस्था की चाह एक सा ही संतुलन का प्रेम, एक न्याय और बुद्धि के प्रति आस्था, एक सा ही षिक्षा मे विश्वास एक सी ही मानवता में आस्था और भाभ जीवन की प्राप्ति के लिए समान चिन्ता दिखाई देती है।

इस प्रकार आदर्ष राज्य के सम्बन्ध में प्लेटों जहाँ अपने विचार समाप्त करता है, अरस्तू वहाँ से प्रारम्भ करता है।

अरस्तू के आदर्ष राज्य की विषेशताएँ

अरस्तू द्वारा प्रतिपादित आदर्ष राज्य की प्रमुख विषेशताओं को निम्नांकित रूपों में देखा जा सकता है––

(1) व्यक्ति का नैतिक विकास अरस्तू के आदर्ष राज्य का लक्ष्य व्यक्ति का नैतिक विकास करना है। चूँकि राज्य सभी समुदायों में सर्वोच्च है, इसलिए इसका उद्देष्य सर्वोच्च हित साधन है। अरस्तू का कथन है कि, श्राज्य जीवन के लिए अस्तित्व में आया और सद्जीवन के लिए विद्यमान है।श यहाँ पर सद्जीवन का अभिप्राय नैतिक जीवन है।

(2) मध्यम वर्ग का सिद्धान्त – अरस्तू अपनी व्यवहारिक बुद्धि के कारण मध्यम मार्ग का अनुसरण करता है। उसका विचार है कि, श्माध्यम मार्ग का अनुसरण करने वाला जीवन ही अनिवार्यतः श्रेश्ठ जीवन है और यह मध्यम मार्ग ही ऐसा है जिसे प्राप्त कर लेना प्रत्येक व्यक्ति के लिए सम्भव है।

अरस्तू यह मानता है कि योग्य सर्वोत्तम भाासन का चुनाव स्वर्णिम मध्यम मार्ग के आधार पर ही किया जा सकता है इस दृश्टि से संवैधानिक तंत्र या सुप्रजातंत्र ही श्रेश्ठ भासन व्यवस्था है जो कि मध्यम वर्ग द्वारा ही चलती है। अरस्तू का मत है कि नगर राज्य में तीन वर्ग होते हैं –

(1) धनी वर्ग, (2) निर्धन वर्ग, (3) मध्य वित्त वर्ग ।

अरस्तू के मतानुसार, संवैधानिक तंत्र एक प्रकार की मिश्रित भाासन प्रणाली है जिसे यह लोकतंत्र व धनिकतंत्र का मेल बताता है। मध्यम वर्गीय राज्य संवैधानिक तंत्र का मूल तत्व सन्तुलन है तथा यह सन्तुलन कुलीनतंत्र तत्व गुण तथा लोकतंत्रीय तत्व संख्या के मध्य स्थापित किया गया है। इन दोनों तत्वों के मेल और मध्यम वर्ग की सुदृढ़ स्थिति पर ही भाासन का स्थायित्व और व्यवस्था निर्भर करती है।

अरस्तू मध्यम वर्ग की प्रधानता के पक्ष में निम्नलिखित तर्क प्रस्तुत करता है

(1) अरस्तू बताता है कि अत्यन्त धनी तथा बलवान व्यक्तियों का झुकाव अपराधों और अत्याचारों की ओर होता है जबकि अत्यन्त निर्धन तथा निर्बल व्यक्तियों की प्रवत्ति धूर्तता तथा तुच्छ अपराधों की ओर होती है। अतः इनकी प्रधानता वाले राज्य दोशपूर्ण होते हैं। प्रत्येक राज्य का उद्देष्य यथासम्भव समान मनुश्यों के समाज की स्थापना करना होता है। मध्यमवर्गीय लोगों की प्रधानता से ही ऐसा सम्भव हो सकता है।

(2) अरस्तू बताता है कि धनी तथा निर्धन दोनों ही वर्गों के लोग मध्यम वर्ग पर समान रूप से विश्वास करते हैं किन्तु वे एक–दूसरे पर विश्वास नहीं करते हैं।

(3) मध्यम वर्ग की प्रधानता वाला नगर सब प्रकार की दलबन्दियों से मुक्त होता है, इसलिए यह अधिक सुरक्षित होता है। साथ ही यह धनी या निर्धन वर्ग को अतिवादी होनें से भी रोकता है। अरस्तू बताता है कि प्राचीन यूनान में सोलन, लाइकरगस आदि श्रेश्ठ नियम निर्माता मध्यम वर्ग में ही उत्पन्न हुए थे। यह भी मध्यम वर्ग की महत्ता का प्रमाण है।

उपरोक्त कारणों से मध्यम वर्ग की प्रधानता वाली भासन व्यवस्था ही सर्वश्रेश्ठ है । मध्यम मार्ग की दृश्टि से व्यवहारिक आधार पर सर्वोत्तम भासन–व्यवस्था संवैधानिक तंत्र या सुप्रजातंत्र (Polity) है। अरस्तू बताता है कि इस मध्यम मार्गी भासन व्यवस्था का एक प्रमुख लक्षण विधि की सर्वोच्चता है।

अरस्तू ने अपने आदर्ष राज्य में भासन सम्बन्धी कार्यों के लिए ही संस्थाओं का उल्लेख असेम्बली यह भासन सम्बन्धी विशयों पर विचार करने के लिए थी। सभी नागरिक इसके सदस्य होते थे ।

मजिस्ट्रेसी यह भासन करने वाले अधिकारियों की संस्था थी ।

न्यायालय और न्यायिक अधिकारी ।

(3) कानून की सर्वोच्चता – अरस्तू ने ष्पॉलिटिक्सष में जिस आदर्ष राज्य का वर्णन किया है. उसकी एक प्रमुख विषेशता कानून की सर्वोच्चता है। अरस्तू कहता है कि, श्ठीक प्रकार से बनाये गये कानून ही अन्तिम प्रभु होने चाहिए। इस व्यक्ति का या कुछ व्यक्तियों का भासन केवल उन्हीं विशयों में सर्वोच्चता होना चाहिए, जिनमें कानून ने कोई स्पश्ट घोशणा न की हो ।श वह तर्क देता है कि, "व्यक्ति के भासन की तुलना में विधि का भासन श्रेयस्कर है, क्योंकि विधि ऐसा विवेक है जिस पर व्यक्ति की इच्छा का प्रभाव नहीं पड़ता है ।

अरस्तू बताता है कि समाज में रीति–रिवाज हमारी संचित बुद्धि है। रीति–रिवाजों का प्रादुर्भाव ही अच्छे जीवन को प्रतिश्ठित करने के लिए होता है, इसलिए वे विधि, विवेक और नैतिकता के पर्यायवाची है। जिस समाज में कानूनों की प्रधानता होती है वह समाज स्वयंसेवी सर्वोत्कृश्ट उद्देष्यों की प्राप्ति करता है कि कानून के भासन का सर्वप्रमुख गुण यह है कि कानून सबके साथ समान व्यवहार करता है ।

अरस्तू यह मानता है कि यह सम्भव है कि कानून के कठोर भासन से कुछ अन्याय हो, किन्तु यह व्यक्ति की निरंकुष व स्वच्छ इच्छा से होनें वो अन्याय से कम होगा। सेवाइन के अनुसार, श्अरस्तू का आदष सदैव ही संवैधानिक भासन रहा है। निरंकुष राज्य नहीं चाहे वह दार्षनिक राजा का निरंकुष राज्य ही क्यों न हो। अरस्तू आरम्भ से ही इस विचार का प्रतिपादन करता है कि श्रेश्ठ राज्य में अन्तिम सम्प्रभु कानून ही होना चाहिए, कोई व्यक्ति नहीं । उसने इस बात को मानवीय दुर्बलता के प्रति रियायत के रूप में नहीं, वरन् अच्छे भासन के अनिवार्य अंग के रूप में और इस प्रकार एक आदर्ष राज्य के रूप में स्वीकार किया है।

(4) जनसंख्या – अरस्तू के अनुसार, आदर्ष राज्य की जनसंख्या न तो बहुत अधिक होनी चाहिए और औ न ही कम । अरस्तू का मत है कि यदि राज्य की जनसंख्या बहुत अधिक होगा तो राज्य में कानून व्यवस्था रखना कठिन हो जायेगा। साथ ही राज्य में सावयवी एकता स्थापित नहीं हो सकेगी जो उसको राजत्व का रूप देती है। दूसरी ओर जनसंख्या कम होने पर राज्य आत्मनिर्भर नहीं हो सकेगा तथा बाहरी भानुओं से अपनी रक्षा भी नहीं कर सकेगा। अरस्तू ने प्लेटों की तरह कोई जनसंख्या निष्चित नहीं की है। अरस्तू का मत है कि राज्य की अधिकतम् संख्या उतनीही होनी चाहिए, जितनी राज्य की आवष्य कतायें पूरी कर उसे आत्मनिर्भर बनाने के लिए पर्याप्त हो ।

कृकृ अरस्तू अपने आदर्ष राज्य में जनसंख्या के आकार पर ही नहीं वरन् लोगों के गुणों व चरित्र पर भी बल देता है। वह कहता है कि, राज्य की महानता का आधार उसके प्रजातंत्र की संख्या नहीं है वरन् उसका मानदण्ड उसकी क्षमता है ।श

(5) प्रदेष – अरस्तू के अनुसार आदर्ष राज्य का प्रदेष इतना होना चाहिए कि उसमें जीवन की आवष्यकतायें पूर्ण हो सकें और उस पर निवार्स करने वाली संयम और उदारतापूर्ण जीवन बिता सके। इस प्रकार अरस्तू का मत है कि प्रदेष न तो इतना कम हो कि लोगों की आजीविका कठिन हो जाये और न इतना अधिक होना चाहिए कि लोग विलासी जीवन व्यतीत करने लगे ।

अरस्तू का मत है कि राज्य का क्षेत्र व उसकी सीमायें ऐसी होनी चाहिए, जिसमें भात्रुओं का –प्रवेष करना कठिन हो तथा जिसकी रक्षा सम्भव हो सके। इसके अतिरिक्त, राज्य ऐसे स्थान पर होना चाहिए, जहाँ जल और स्थल दोनों मार्गों से आसानी से पहुँचा जा सके। तभी राज्य का विकास एक व्यापारिक केन्द्र के रूप में सम्भव हो सकेगा।

(6) नागरिकों का चरित्र

अरस्तू का विचार है कि एक राज्य का चरित्र उसके नागरिकों के चरित्र पर निर्भर है, इसलिए वह अपने राज्य के नागरिकों के चरित्र पर बहुत बल देता है। अरस्तू का मत है कि बुद्धिमता, साहस और उत्साह के मेल से ही नागरिक अपना राजनीतिक विकास कर सकते हैं। वह कहता है कि चरित्र और योग्यता में जनता यूनानियों के समान होनी चाहिए, जिनमें उत्तर जातियों के उत्साह और एषियाई जातियों की बुद्धिमता का मेल है।

(7) राज्य की स्थिति – अरस्तू का मत है कि आदर्ष राज्य का प्रदेष दो भागों में बँटा होना चाहिए–– (1) विषेश बस्ती या नगर, (2) इसके चारों और का प्रदेष । आदर्ष राज्य मे सार्वजनिक स्वास्थ्य, राजनीतिक सुविधा तथा सैनिक आवष्यकताओं को ध्यान मे रखकर ही बस्ती का स्थान निष्चित करना चाहिए। बस्ती में पूजाग्रह, पार्क, व्यायामषालाएं, बाजार बन्दरगाह और सार्वजनिक स्थान होने चाहिए।

8. राज्य मे विभिन्न वर्ग – अरस्तू के विचार सुस्पश्ट, आदर्ष राज्य के नागरिकों की प्रमुख आवष्यकतायें 6 हैं– भोजन, कला–कौषल, हथियार, सम्पत्ति, सार्वजनिक देव पूजा तथा सार्वजनिक हित का निर्धारण, इन आवष्यकताओं की पूर्ति के लिए राज्य में 6 वर्ग होंगे–

कशक, षिल्पी, योद्धा, व्यापारी, पुरोहित, तथा सार्वजनिक हित का निर्धारण अर्थात प्रषासक

उपर्युक्त 6 वर्गों में से प्रथम दो वर्गो को अरस्तू नागरिकता का अधिकार प्रदान नहीं करता है। क्योंकि उनका जीवन सद्गुणों नहीं होता है। भोश चार वर्गों को अरस्तू राज्य का नागरिक मानता है। उसका मत है कि अन्य चार वर्गों के नागरिक युवावस्था में देष की रक्षा का कार्य करें, प्रौढ़ावस्था में राज्य के भाासन सम्बन्धी विशयों का चिन्तन करें तथा वष्द्धावस्था में पुरोहित का कार्य करे।

प्लेटो ष एक व्यक्ति एक कार्य की बात करता है तो अरस्तू एक ही व्यक्ति को उसकी अवस्था के अनुसार तीन कार्य देता है। इसे स्पश्ट करते हुए डर्निंग ने लिखा है, श्नागरिकता के विभिन्न कार्यो को करते हुए नागरिक लोग उस समानता को बनाये रखेंगे जो स्वतंत्र नागरिक की विषेशता है। साथ ही मासक और षामिल दोनों रूपों में अनुभव प्राप्त करके, चे नागरिक के चरित्र का निर्माण करेंगे ।

9. षिक्षा

अरस्तू अपने गुरु प्लेटों की तरह षिक्षा को राज्य का मुख्य आधार मानता है। उसका मत है कि आदर्ष राज्य मे नागरिकों के लिए एक ही प्रकार की अनिवार्य तथा सार्वजनिक षिक्षा की व्यवस्था होनी चाहिए। अरस्तू का मत है कि नागरिकों का चरित्र पूर्ण रूप से उनकी षिक्षा पर निर्भर करता है ।

अरस्तू ने मानवीय विकास के स्वाभाविक क्रम को ध्यान में रखते हुए षिक्षा को तीन स्तरों में विभाजित किया है–

प्रथम स्तर

जन्म से 7 वर्श की आयु तक भारीर सम्बन्धी षिक्षा होनी चाहिए। यह षिक्षा घर पर ही होनी चाहिए।

द्वितीय स्तर –

7 वर्श से 14 वर्श की आयु तक की षिक्षा राज्य के नियंत्रण में होनी चाहिए। इस आयु में पढ़ाई लिखाई, चित्रकला, संगीत और व्यायाम की षिक्षा दी जायेगी ।

तष्तीय स्तर

14 से 21 वर्श तक की आयु में राज्य की सेवा के लिए प्रषिक्षण प्रदान किया जाता है। इस समय उन्हें आज्ञापालन करने और भासन करने की षिक्षा प्रदान की जाती है। इस काल में बौद्धिक षिक्षा व व्यापार की षिक्षा भी प्रदान की जायेगी ।

10. सम्पत्ति अरस्तू अपने आदर्ष राज्य के नागरिकों के लिए व्यक्तिगत सम्पत्ति आवष्यक मानता है। इसीलिए वह प्लेटो द्वारा प्रतिपादित सम्पत्ति के साम्यवाद का विरोध करता है । वह यह मानता है कि सम्पत्ति का विशम वितरण राज्य के हित पर प्रतिकूल प्रभाव डालता

है। इसलिए वह सम्पत्ति की विशमता को दूर करने के लिए निम्नलिखित तीन विकल्प प्रस्तुत करता है।–

1 सम्पत्ति वैयक्तिक हो, किन्तु इसका उपभोग सामूहिक हो ।

2 सम्पत्ति सामूहिक हो, किन्तु इसका उपभोग वैयक्तिक हो,

3 सम्पत्ति सामूहिक हो तथा इसका उपभोग भी सामूहिक हो ।

अरस्तू इनमें से प्रथम विकल्प को अपनाने के पक्ष में है। उसका मत है कि प्रत्येक व्यक्ति अपनी भूमि पर दासों की सहायता से कृशि कार्य करेगा। चूँकि उत्पादन वैयक्ति होना अतः सभी व्यक्ति अधिकाधिक उत्पादन का प्रयत्न करेंगे तथा उपभोग सामूहिक होने पर समाज में समानता और भाई–चारे को अपनाया जा सकेगा।

अरस्तू का आदर्ष राज्य भी दोशमुक्त नहीं है। इसकी आलोचना निम्नलिखित आधारों पर की जा सकती है–

1.अरस्तू ने अपने आदर्ष राज्य में दास प्रथा को बनाये रखा है, यह अनुचित है।

2• अरस्तू समाज के भाारीरिक श्रम और षिल्पकार व कृशकों की उपेक्षा करता है तथा उन्हें नागरिकता के अधिकार से वंचित करता है। उसके ये विचार आधुनिक प्रजातांत्रिक तथा समाजवादी दृश्टिाकेण के विपरीत है।

अरस्तू द्वारा स्त्रियों को नागरिकता का अधिकार प्रदान करना, उसकी एक बहुत बड़ी

अरस्तू की यह धारणा कि यूरोप और एषिया के लोगों में भासन करने की क्षमता नहीं है, यह क्षमता केवल यूनानियों में है, गलत है तथा उसकी जातीय अहंकारिता को स्पश्ट करती है । अरस्तू का यह कहना वास्तविकता से परे हैं कि युवावस्था में सैनिक सेवा करने वाले प्रौढ़वस्था मे भाासक और न्यायाधीष का कार्य करेंगे !

5.उपर्युक्त आलोचनाओं से स्पश्ट है कि अरस्तू ने अपने विचारों में यथार्थवाद का तो चित्रणकिया है किन्तु आदर्षवाद कहीं दिखाई नहीं देता है। सेवाइन के अनुसार, श्एक आदर्ष राज्यकी रचना करने का अरस्तू का घोशित उद्देष्य कभी पूरा नहीं हुआ और पाठक यह अनुभवकरता है कि इस कार्य मे उसकी अधिक रुचि नहीं थी । उसने राज्य के आदर्षो के ऊपरएक पुस्तक लिखी है, एक आदर्ष राज्य के ऊपर नहीं।

अरस्तू के आदर्ष राज्य का महत्व

उपरोक्त आलोचनाओं से यह नहीं समझ लेना चाहिए कि अरस्तू का आदर्ष राज्य बिल्कुल ही महत्वहीन है। अरस्तू एक यथार्थवादी विचारक है। वह प्लेटो की तरह कल्पना की उड़ान नहीं भरता है वरन् अपने समय की परिस्थितियों को देखते हुए कैसा सर्वोत्तम राज्य उपलब्ध हो सकता है, उसी का उल्लेख करता है। अरस्तू के षिक्षा सम्बन्धी विचार, नागरिकों का चरित्र, कानून की सर्वोच्चता पर बल आदि विचार महत्वपूर्ण है। उसके आदष राज्य में किसी भी रूप में नागरिकों के हितों और इच्छाओं की अवहेलना नहीं की गई हैं। अरस्तू के आदर्ष

राज्य में राज्य के श्रेश्ठ जीवन तथा व्यक्ति के श्रेश्ठ जीवन मे कोई अन्तर नहीं है और इस दृश्टि से यह नितान्त आवष्यक है।

सिनक्लेयर के अनुसार, श्आदर्ष राज्य और सर्वश्रेश्ठ संविधान पर विचार करते समय अरस्तू केवल इतनी स्वतंत्रता लेता है कि वह एक ऐसे सर्वश्रेश्ठ राज्य की कल्पना कर सके. जो सम्भावना की सीमा से परे न हो।

अरस्तू का आदर्ष प्लेटों के विचारों से प्रभावित है। सेवाइन के भाब्दो में, श्अरस्तू का राजनीतिक आदर्षो का सिद्धान्त उस भूमि के ऊपर आधारित है जो कि उसने स्पश्टतः प्लेटो के साथ अपने संसर्ग से प्राप्त की थी। यह उस प्रयास का परिणाम है जो कि उसने —स्टेट्समैन और लॉज में प्रतिपादित सिद्धान्त के मुख्य तत्वों को ऐसे परिवर्तनों के साथ जो कि उस सिद्धान्त को स्पश्ट एवं संगतिबद्ध बनाने के लिए अपेक्षित थे, ग्रहण करने की क्रिया है ।

इस सम्बन्ध में बार्कर का कथन है कि, श्यह एक विलक्षण और संकेतपूर्ण तथ्य हैं कि अपने सर्वोत्त्म को अंकित करने मे उसने प्लेटो के द्वितीय सर्वोत्तम उप—आदर्ष राज्य का अनुसरण किया है।

अभ्यास—प्रष्न

1. अरस्तु का संक्षिप्त जीवन परिचय दीजिये ।

2. अरस्तु प्रथम राजनीतिक वैज्ञानिक था । समीक्षा कीजिए ।

3. अरस्तु के दासता संबंधी विचारों का वर्णन कीजिये ।

4. क्रांतियों के कारणों तथा उनके प्रतिकार के उपायों के संबंध में अरस्तु की धारणाओं की

विवेचना कीजिये ।

5. अरस्तु के अनुसार राज्य के कार्य एवं उद्देष्य क्या है ?

6. अरस्तु द्वारा किये गये संविधानों के वर्गीकरण पर प्रकाष डालिये।

7. अरस्तु के न्याय संबंधी विचारों पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखिये। 8. आदर्ष राज्य के सम्बन्ध में अरस्तु के विचारों की समीक्षा कीजिये ।

माड्यूल – 2 पश्चिमी राजनीतिक विचारक

इकाई – 4 मैकियावली का जीवन परिचय

यूरोप के इतिहास में दो ऐसे आन्दोलन हुए जिनके परिणामस्वरूप मध्ययुग का पटाक्षेप हो गया है और आधुनिक युग का सूत्रपात हुआ । इनके नाम हैंरू पुनर्जागरण (त्मदवनेंदबम) और **ᵐ** सुधार आन्दोलन (त्मवितउंजपवद)। मध्ययुग की संस्कृति ने उन विचारों को आत्मसात कर लिया था जो रोमन साम्राज्य व्यवस्था में निहत थे, और कई ऐसे विचारों को भी जो यूनानी दर्षन में व्यक्त हो चुके थे । मध्ययुग एक ऐसा विश्वव्यापी समाज था, जिसके ऊपर दो विभिन्न भाक्तियों का प्रभुत्व था, एक पोप, तथा दूसरा सम्राट मध्ययुग में यह सामान्य विश्वास था कि विश्व में मानव का स्थान निष्चित करेन तथा उसके नैथ्तक कर्तव्यों की परिभाशा करने वाली अग्रिम तथा सर्वोच्च भाक्ति चर्च है । इसका अर्थ न केवल यह था कि आस्था तथा ईश्वर द्वारा प्रेशित ज्ञान तर्क से श्रेश्ठतर है, बल्कि इसका मतलब यह भी था कि मनुश्य के सांसारिक हित आध्यात्मिक लक्ष्य के अधीन है। भौतिक भावित की आध्यात्मिक भाक्ति के प्रति यह अधीनता अर्थात सम्राट पर धर्माधिकारी का यह प्रभुत्व मध् यकालीन सभ्यता तथा संस्कृति की प्रमुख विषेशता थी पुनर्जागरण प्राचीन काल के बहुदेववाद का पुनरुत्थान था। यह उस प्राचीन संस्कति के पुर्नजन्म का द्योतक है जो मसीही धर्म के विजय के बाद लुप्त हो गयी थी । पुनर्जागरण में जो तत्व उभरकर सामने आये, उनमें प्रमुख स्थान यूनानी कला का था, यूनानी दर्षन का नहीं रोमन गणराज्यों के विचारों का था, रोमन साम्राज्य के विचारों का नहीं। यह यूरोप के लोगों में बहुदेववादी भावना पुनरुत्थान का द्योतक भी था, जो मध्ययुग की ईसाई संस्क ति के अविर्भाव से दब तो गयी थी, पर लुप्त नहीं हो पायी थी। अब लोगों के मन में प्राचीन विचारकों की प्रति एक नयी जिज्ञासा जागष्त हुई क्योंकि इनमें कुछ ऐसे विचार थे जिनके प्रति वे अपनेआपको सजग अनुभव करते थे। 14वीं भाताब्दी में पोपतंत्र तथा साम्राज्य के बीच चलने वालेसंघर्श में से एक नवीन दृश्टिकोण का जन्म हुआ जो अरस्तु की भावना से भरा था और जो इस बात पर जोर देता था कि राज्य एक स्वपर्याप्त संस्था है और चर्च से स्वतंत्र है। इस विचारधारा को हम मार्सिलियो ऑफ पेडुआ में चरम सीमा पर पहुंचते हुए पाते हैं। उसकी अन्तिम विजय का अर्थ था नवीन धर्म–निरपेक्ष राज्य की विजय, जिसका 14वीं एवं 15वीं भाताब्दी में धीरे धीरे उदय हो रहा था। यहीं से मध्ययुग का अन्त तथा आध निक युग का जन्म होता है जो राश्ट्रवाद की भावना तथा व्यक्ति की स्वतंत्रता पर जोर देता है। दूसरी ओर, धर्म सुधार का आन्दोलन ऐसा था जो स्वयं मसीही धर्म के भीरत आया था। यह मसीही धर्म विरोधी नहीं था । इसका ध्येय यह बताया जाता था कि मसीही धर्म में जिन बाहरी तत्वों का घालमेल हो गया है, उन्हें निकाल कर इसे भाद्ध कर लिया जाये। अतः पुनर्जागरण और धर्म सुधार उन प्रमुख दो भाक्तियों के द्योतक हैं जिन्होंने मध्यकालीन यूरोप को आधुनिक यूरोप में परिवर्तित कर दिया। मैकियावली इन्हीं में से एक भाक्ति का प्रतिनिधि है। राजनीतिक सिद्धान्त के क्षेत्र में वह पुनर्जागरण का प्रतिनिधि है ।

जीवन परिचय

मैकियावली का जन्म पुनर्जागरण की जन्मभूमि इटली में पुनर्जागरण आन्दोलन में अग्रणी रहे फ्लोरेन्स नगर के एक सम्पन्न परिवार में सन् 1469 में हुआ। उच्च षिक्षा से वंचित रहने के कारण 25 वर्श की अवस्था में अपने गणराज्य के एक छोटे से पद पर आसीन होकर उसने अपने राजनीतिक जीवन का प्रारम्भ किया । अपनी सूझबूझ और भासन संचालन की

बारीकियों को समझने की अद्‌भुत क्षमता के कारण थोड़े से समय में ही उच्च राजनीतिक पद प्राप्त करने में सफल हो गया।

शासकीय पद युद्ध तथा आन्तरिक मामलों से सम्बन्धित था। 1512 तक मैकियावली इसी पद पर बना रहा। इसी बीच उसे फ्लोरेन्स का दूत बनकर इटली एवं अन्य यूरोपीय देषों में भ्रमण का अवसर भी हुआ, जिससे उसको सक्रिय राजनीति का व्यापक एवं व्यवहारिक अनुभव प्राप्त हुआ। 1509 के बाद जब रेवेन्ना में स्पेन के हाथों फ्रांस पराजित हो चुका था इटली में दीची का दल सत्तारूढ़ हुआ । कुछ वर्श बाद 1512 में फ्लोरेन्स ने भी तत्कालीन सरकार से पदच्युत करके सत्ता विजयी दल को सौंप दी, हांलाकि इस देष ने युद्ध में हिस्सा नहीं लिया था। मैकियावली की नौकरी छूट गयी और उसे फ्लोरेन्स से निश्कासित कर दिया गया। अगले वर्श पाया गया कि एक शड़यंत्र में उसका हाथ रहा था जो असफल हो चुका था। उसे बंदी बना लिया गया, यातनाएँ दी गयी, पर अन्त में उसे रिहा कर दिया गया। वह गाँव चला गया जहाँ वह अपना समय खेती—बाड़ी और साहित्य के अध्ययन में बिताने लगा। अपनी सबसे महत्वपूर्ण कृतियाँ उसने इसी दौर में प्रस्तुत की ।

राजनीतिक सिद्धान्त की दृष्टि से मैकियावली की दो क तियाँ सबसे महत्वपूर्ण हैं रू डिसकोर्सेज आन द फर्स्ट टेन बुक ऑफ टीटस लिवियसष और ष्द प्रिंसष । षडिसकोर्सेजष के अन्तर्गत रोमन गणराज्य के इतिहास की स्वतंत्र काव्य प्रस्तुत की गयी। मैकियावली ने उससे कुछ षिक्षाएँ ग्रहण की है और अपने युग के मार्गदर्षन के लिए सूत्र निर्दिश्ट किये है। ष्द प्रिंसष ऊर्बिनों के ड्यूक लोरेंजों को लक्ष्य करके लिखी गयी है। ष्द प्रिंसष की रचना 1513 के अंत में सम्पन्न हुई। षडिसकोर्सेजष की रचना पहले प्रारम्भ की गयी थी, परन्तु वह बाद में पूरी हुई। मैकियावली की पुस्तके एक ही विशय के विभिन्न पहलुओं को प्रकट करती है। मैकियावली का प्रतिपाद विशय है कि राज्यों का उत्थान एवं पतन कैसे होता है तथा राजनेता उन्हें किन साधनों के द्वारा स्थायी बना सकता है। प्रिंस में राजतंत्रों अथवा निरंकुष भाासन प्रणालियों पर विचार किया गया है। मैकियावली के भोश जीवन का कोई विषेश महत्व नहीं है। लोरेंजो ने उसकी आषाओं पर पानी फेर दिया, न उसका कुछ बना न इटली का । मैकियावली ने जो अन्य ग्रंथ लिखे उनमें ष्आर्ट ऑफ वारष और षहिस्ट्री ऑफ फ्लोरेन्सष प्रमुख हैं। 1521 से उसे मेदीची ने छोटी—मोटी राजनैतिक नौकरी पर रखा। उसकी मृत्यु 1527 में हुई । .

मैकियावली के चिन्तन पर उसके समय की परिस्थितियों का गहरा प्रभाव पड़ा। वैसे तो प्रत्येक विचारक के विचार अपने देष और काल के रंग में रंगे होते हैं किन्तु यह रंग मैकियावली पर सबसे गहरा चढ़ा हुआ दिखाई पड़ता है। यह कहा जाता है कि इटली की दषा के बारे में इतना अधि एक किसी अन्य व्यक्ति को मालूम नहीं था, जितना कि मैकियावली को था। इसमें कोई सन्देह नहीं कि यदि वह भिन्न परिस्थितियों में रहता तो उसके विचार एवं क तियाँ भिन्न होती । मैकियावली पर अपेन युग की परिस्थितियों के गहरे प्रभाव को देखकर ही डर्निंग ने उसके सम्बन्ध में कहा कि, ष्यह प्रतिभा सम्पन्न फ्लोरेन्स निवासी वास्तविक अर्थ में अपने युग का षिषु था। अतः मैकियावली के चिन्तन को समझने के लिए उसके युग के उन पोशक तत्वों और उपलब्ध परिस्थितियों का अध् ययन आवष्यक है, जिन्होंने उसके चिन्तन को प्रभावित किया। जिन बातों ने मैकियावली के ऊपर सबसे गहरा प्रभाव डाला और उसके दर्षन की रूपरेखा निर्धारित की, उन्हें हम निम्नलिखित भीर्शकों के अन्तर्गत रख सकते हैं रू—

(1)पुनर्जागरण आन्दोलन

(2)निरंकुष राजतंत्रों का उदय

(3) इटली का राजनैतिक विभाजन और दुर्दषा

पुनर्जागरण आन्दोलन ने ईश्वर की अपेक्षा मनुश्य के अध्ययन को महत्वपूर्ण बनाया और मनुश्यों के पारस्परिक सम्बन्ध, आत्मा तथा परमात्मा के सम्बन्ध की अपेक्षा अधिक रूचि के केन्द्र बन गये । मध्यकाल की पारलौकिकता के स्थान पर अब मानव समस्याओं का अध्ययन तथा उनका हल निकालने का प्रयत्न होने लगा। प्राचीन अति– प्राकृतिक (Supra & Nature) विचार का स्थान एक मानवीय तथा प्राकृतिक विचार ने ले लिया। जीवन में v kUnksyu (Struggle) पर अधिक जोर दिया जाने लगा। इसी लोक में सफलता प्राप्त करना मोक्ष प्राप्ति से अधिक महत्वपूर्ण समझा जाने लगा। पुनर्जागरण ने इहलोक को अपना केन्द्र बिन्दु बनाया और यूनानी सोफिस्टों की इस युक्ति को अपनाया कि मनुश्य ही प्रत्येक वस्तु का मापदण्ड है। कुल मिलाकर पुनर्जागरण का अर्थ था चर्च के नियंत्रण के विरूद्ध धर्म निरपेक्ष बुद्धि का विद्रोह । मैकियावली की क तियों में पुनर्जागरण युद्ध की वास्तविक स्थिति के दर्षन होते हैं । व्यक्ति का महत्व और उसका सौन्दर्य व्यतिक्त का असीमित विकास और उसका पूर्वत्म जन्म के आधार पर व्यक्ति को उच्च मानने की प्रवषत्ति का तिरस्कार, बौद्धिक तर्कवाद और सांसारिक मर्यादा का निरूपण, उदगमनात्मक, पद्धति का अनुसरण, राश्ट्रीयता की भावना का नेत त्व तथा पारलौकिक के स्थान पर लौकिक उद्देष्यों की उपलब्धि का औचित्य आदि इतने सारे तथ्य हैं जिनका समर्थन मैकियावली ने अपने विचारों और क तियों में किया है। ये सारे सिद्धान्त पुनर्जागरण की देन है ।

पुनर्जागरण काल भारी राजनीतिक उथल–पुथल का दौर था । भाासन एवं भाासन सम्बन्ध विचारों में विपुल परिवर्तन हुए। मध्ययुगीन सामन्तवादी व्यवस्था अपनी उपयोगिता खोती जा रही थी। नये उभरते हुए राजवंषों की भाक्ति में अतुलनीय वषद्धि हुई। सभी राज्यों में राजा ने सामन्तों का दमन करके भाक्तिषाली एवं निरंकुष राजतांत्रिक व्यवस्था स्थापित की। पष्चिमी यूरोप के प्रत्येक भाग में राजा की भाक्ति में अतुलनीय वषद्धि हुई। सभी राज्यों में राजा की भाक्ति अन्य प्रतियोगी संस्थाओं के मूल्य पर बढ़ी। ये प्रतियोगी संस्थाएं कुलीन वर्ग, संसदे, स्वतंत्र नगर अथवा धर्माचार्य आदि थे। राजनैतिक भाक्ति जो मुख्य रूप से सामन्तों एवं निगमों में विभक्त थी, भीघ्र ही राजा के हाथों में केन्द्रित हो गयी। सोलहवीं भाताब्दी में एक ऐसे प्रभु का सिद्धान्त जो समस्त राजनैतिक भाक्ति का स्त्रोत है, राजनीतिक दर्षन का सामान्य रूप बन गया। निरकुंष राजतंत्रों की स्थापना नये आर्थिक परिवर्तनों की भी मांग थी।

यूरोपीय समाज में अनेक वर्शों से होते आ रहे आर्थिक परिवर्तनों ने एकदम से सामूहिक परिणय उपस्थित किया। इनके कारण मध्ययुग की संस्थाओं में आमूल परिवर्तन हुआ।

सार्वभौम चर्च एवं सार्वभौम साम्राज्य के सिद्धान्तों के बावजूद ये संस्थाएं इस तथ्य पर आधारित थी कि मध्ययुगीन समाज का आर्थिक ढांचा और राजनैतिक संगठन पूरी तरह स्थानीय था ।

यह परिवहन के साधनों की सीमाओं का अनिवार्य परिणाम था । कोई विषाल स्वतंत्रता देता हो । वाणिज्य भी मुख्य रूप से स्थानीय ही था । मध्ययुग में वाणिज्य संगठन की इकाई नगर था। 14वीं भाताब्दी में धन का प्रयोग या संचरण बहुत अधिक नहीं था। संचार साधनों के विकास के साथ–साथ वाणिज्य में हुए परिवर्तनों एवं व्यापार वषद्धि ने पुरानी व्यापारिक श्रेणियों की उपयोगिता को नश्ट कर दिया क्योंकि वे निरन्तर बढ़ते व्यापार का सफल संचालन करने में असमर्थ थी । सोहलवी भाताब्दी तक सम्पूर्ण राज्य सरकारों ने राश्ट्रीय संसाधनों का उपयोग करने, राज्य के भीतर में और बाहर वाणिज्य को प्रोत्साहन देने और राश्ट्रीय भाक्ति के विकास की एक जानी–बूझी नीति अपना ली थी। रोम के साम्राज्य के बाद यह पहला अवसर था जबकि यूरोपीय समाज में धनी और उद्यमी दोनों प्रकार के व्यक्ति काफी अधिक संख्या में थे। यह वर्ग कुलीनों का और उनके द्वारा प्रस्तुत विभाजनों एवं अव्यवस्थाओं का घोर विरोधी था । उनके हित राज्य के भीतर एवं बाहर दोनों स्थानों पर सषक्त सरकार के साथ थे । इसीलिए इनकी राजनैतिक संधि सवभावतः राजा के साथ थी। नया उभरता हुआ व्यापारी वर्ग अपेन व्यापार के स्थायित्व एवं सुरक्षा के लिए भाक्तिषाली राजतंत्रों की स्थापना में सहायता देने लगा द्य फलस्वरूप कुलीन वर्ग का समाज में महत्व घटने लगा और व्यापारी वर्ग का प्रभुत्व बढ़ने लगा । राजा भी देष की समषद्धि में वषद्धि के लिए व्यापारियों को सहायता एवं संरक्षण देने के पक्ष में थे। कुल मिलाकर हवा भाक्तिषाली राजतंत्रों की स्थापना के पक्ष में बहने लगी । मेकियावली इसेस बहुत प्रभावित था । षप्रिंसष में उसने जिस भाासक की कल्पना की है वह और कोई नहीं, निरंकुष भाक्तिषाली राजा ही है, जिसके लिए धर्म, नैतिकता और राजनीति सभी का महत्व केवल राज्य के गौरव और भाक्ति बढ़ाने के साधन के रूप में है। राज्य का हित उसके लिए सर्वोपरि हित है तथा राज्य की सुरक्षा और विस्तार उसके लिए बड़े महत्व की वस्तुएँ। वह इस उद्देष्य की प्राप्ति के लिए नैतिक–अनैतिक, धर्म–अधर्म आदि किसी भी साधन को प्रयोग में लाने के लिए स्वतंत्र है।

मैकियावली के समय इटली पांच राज्यों––

1– नेपल्स का राज्य, 2– रोमन कैथोलिक चर्च का क्षेत्र, 3–उची ऑफ मिलान, 4–– वेनिस गणराज्य तथा 5 फ्लोरेन्स गणराज्य में बंटा था जबक इंगलैण्ड, फ्रांस और स्पेन राश्ट्रीय राज्यों के रूप में स्थापित हो चुके थे। इटली के पांचों राज्य आन्तरिक रूप से राजनीतिक प्रतिस्पर्धाओं तथा व्यक्तिगत महत्वकांक्षाओं के गढ़ थे और बाहरी रूप से ये निरन्तर एक दूसरे के साथ संघर्श करते रहते थे। इटली का तात्कालिक समाज अरस्तु के इस कथन को कि शविधि और न्याय से प थक मनुश्य समस्त प्रजातियों से निकटतम होता हैश सार्थक सिद्ध कर रहा था। मैकियावली को इटली के इस कलहपूर्ण विभाजन से इस बात की आकांक्षा थी कि इसका लाभ उठाते हुए इटली के पड़ोसी राज्य उसको कभी भी हड़प सकते हैं और उसके अस्तित्व को समाप्त कर सकते हैं। वह चाहता था कि राश्ट्रीय राज्यों की तरह इटली का भी राश्ट्रीय आधार पर एकीकरण हो और वह भी किसी भाक्तिषाली भासक के अधीन अपना स्वतंत्र विकास करनेमें सफल हो सके। इटली की इस राश्ट्रीय आवष्यकता को सर्वप्रथम मैकियावली ने ही महसूस किया और उसके लिए इटली के भाासकों का आह्वान किया कि वे मिलकर एक भाक्तिषाली तथा सुद ढ़ इटैलियन राश्ट्र का निर्माण करें और इटली को उसकी वर्तमान दुर्दषा से मुक्ति दिलायें। मैकियावली ने अपनी अन्तदृश्टि से राश्ट्रवाद के भावी विकास और महत्व को पहचाना और इटली के राश्ट्रवाद के अग्रदूत होने का श्रेय प्राप्त किया। इस ओर संकेत करते हुए सेबाइन का कथन है कि श्मैकियावली के

अतिरिक्त और कोई व्यक्ति इटली को नहीं पहचान सका । उसके अतिरिक्त अन्य किसी व्यक्ति को सम्पूर्ण यूरोप में चलने वाले इस विकास क्रम का स्पश्ट ज्ञान नहीं हो पाया।श अतः इटली के राश्ट्रीय एकीकरण की समस्या ने भी मैकियावली को प्रेरित किया कि इस लक्ष्य को सामने रखकर अपनी रचनाओं का स जन करे और ऐसा वातावरण तैयार करे जिससे कि इस लक्ष्य की पूर्ति हो सके। उपर्युक्त अध्ययन से स्पश्ट है कि मैकियावली का चिंतन उसके युग में विद्यमान परिस्थितियों से बहुत अधिक प्रभावित था और इसलिए डर्निंग द्वारा जो उसे ष्युग का षिषु की संज्ञा दी गयी है वह काफी – हद तक उचित और उपयुक्त है।

मैकियावली के चिंतन की प्रमुख विषेशताएँ–

अध्ययन पद्धति

अपने युग की समस्याओं पर विचार करने के लिए मैकियावली ने एक नया दृश्टिकोण अपनाया । उसका मानना था कि जिसको यह ज्ञात करना है कि भविश्य में क्या होगा, उसे पहले से ज्ञात होना चाहिए कि अतीत में क्या हो चुका है। मैकियावली ने पूर्व वैज्ञानिक तटस्थता की नीति अपनाते हुए अपनी समकालीन परिस्थितियों का गहन अध्ययन किया, उनके बारे में पूरी जानकारी प्राप्त की और उसके आधार पर अपने निश्कर्शो का प्रतिपादन किया। उसकी अध्ययन पद्धति में अनुभववाद एवं इतिहासवाद का सुन्दर समन्वय है। अरस्तु के बाद इस पद्धति को अपनाने वाला मैकियावली पहला व्यक्ति था। इस पद्धति का अनुसरण करते हुए उसने तत्कालीन धर्म भाक्ति को एक गम्भीर चुनौती दी और मानव व्यवहार के पथ प्रदर्षन के रूप में ईश्वरीय नियमों का बहिश्कार करते हुए राजनीति विज्ञान का आधार ही परिवर्तित कर दिया।

षप्रिंसष मैकियावली की पहली महान रचना है जिसमें देवीय और मानीवय तत्वों में स्पश्ट संघर्श दिखलाई देता है और जिसमें पूर्ववर्तियों द्वारा अपनायी गयी प्राचीन सूक्तियों को यह समझकर छोड़ दिया गया कि वे सैद्धान्तिक रूप से बुद्धिहीन और व्यवहारिक रूप से भ्रश्ट करने वाली थी । डर्निंग एवं सेबाईन उसकी पद्धति को विषुद्ध रूप से वैज्ञानिक कम और पर्यवेक्षात्मक अधिक मानते हैं क्योंकि उसने अपनी समकालीन परिस्थितियों की आवष्यकतानुसार कुछ सिद्धान्त पहले से ही निष्चित कर लिए और फिर उनको पुश्ट करने के लिए इतिहास से खोज–खोज कर उदाहरण दिये। उसने एतिहासिक उदाहरणों का प्रयोग अपने स्वतंत्र निश्कर्शो की पुश्टि के लिए किया। एक दृश्टि से यह बड़ा अनैतिहासिक था। उसने स्पश्ट रूप से कहा है कि मानव प्रकृति सदैव ही और सर्वत्र ही एक सी है। अपने इस दृश्टिकोण के कारण उसे जहां से उदाहरण प्राप्त हुए, उन्हें वहीं से ले लिया। उसकी पद्धति निरीक्षणात्मक थी, लेकिन उसका निरीक्षण व्यवहारिक बुद्धि द्वारा निर्दिश्ट होता था । नैतिकता के प्रति मैकियावली की उदासनीता को वैज्ञानिक तटस्थता कहना भी एक दुरूह कल्पना है मैकियावली तटस्थ नहीं था। उसकी दिलचस्पी केवल एक ही साध्य राजनीतिक भक्ति में थी । अन्य सारी बातों के प्रति यह उदासीन था । मैकियावली के राजनीतिक सिद्धान्तों का किसी व्यवस्थित पद्धति से विकास नहीं हुआ। वे विषिश्ट परिस्थितियों के सम्बन्ध में उसके विचारों के आधार पर विकसित हुए। मैकियावली की न तो दर्षन में दिलचस्पी थी और न [illegible] के उपयोग से परे कुछ सामान्य सिद्धान्तों के निरूपण में। कभी–कभी वह अपने सिद्धान्तों का वर्जन मान देता है अथवा वह उन्हें स्वतः सिद्ध मान लेता है। फिर भी यह तो मानना ही पड़ेगा कि मैकियावली ने अपने अध्ययन को धार्मिकता,

परम्परावादिता, रूढ़िवादिता और कोरे पांडित्य प्रदर्षन से मुक्त करके उसे एतिहासिक यथार्थवादी और वैज्ञानिक आधार पर किया ।

मैकियावली का चिन्तन राज्य का सिद्धान्त नहीं वरन राज्य की सुरक्षा का सिद्धान्त है

मैकियावली का सम्पूर्ण राजनीतिक चिन्तन राज्य की सुरक्षा एंव राज्य संचालन की कला से सम्बन्धित है। यद्यपि मैकियावली ने अरस्तु अध्ययन की पद्धति का अनुसरण किया फिर भी उनके

चिंतन में मौलिक अन्तर है। अरस्तु का उद्देष्य जहाँ पर षुद्ध राजनीतिक दर्षन का प्रतिपादन और विवेचन राज्य है वहीं मैकियावली का उद्देष्य व्यवहारिक दृश्टि से ऐसे सिद्धान्तों का प्रतिपादन करना है जिन्हें व्यवहार में लाकर एक भाासक अपने राज्य की सुरक्षा और भाासन का सुल संचालन कर सकता है। अरस्तु की तुलना में राज्य के प्रति मैकियावली का दृ श्टिकोण बड़ा संकीर्ण है क्योंकि उसका उद्देष्य केवल भाासन कला का प्रतिपादन करना है अरस्तु की तरह राज्य का सांगोपांग सैद्धान्तिक विवेचन करना नहीं है। अरस्तु के विपरीत उसके चिंतन में हमें क्रमबद्धता का अभाव भी दृश्टिगोचर होता है !

राजनीति से धर्म और नैतिकता का सम्बन्ध विच्छेद

मैकियावली के चिन्तन में हमारा ध्यान सबसे पहले उसके निशेधात्मक सिद्धान्तों की ओर जाता है। उसके लौकिक और आध्यात्मिक क्षेत्रों के पार्थक्य पर प्रहार किया और प्राकृतिक कानून के सिद्धान्त को अस्वीकार कर दिया। मध्ययुगीन मान्यताओं के विरूद्ध राजनीति को धर्म एंव नैतिकता के बन्धनों से पूर्णतः मुक्त कर दिया। मैकियावली इस मूल धार्मिक मान्यता में विश्वास नहीं करता कि मनुश्य की नियति एक पारलौकिक साध्य की सिद्धि नहीं करना है। उसके अनुसार मनुश्य के सभी साध्य पार्थिव हैं, दिव्य नहीं । भौतिक सम द्धि के अलावा वह जिन मूल्यों को स्वीकार करता है वे सब पार्थिव हैं। ये मूल्य है– महानता, भाक्ति और यष मैकियावली राज्य को साध्य मानता है और धर्म को इस साध्य के साधन की पदवी देता है। मैकियावली का सिद्धान्त धर्म के विरूद्ध नहीं है। उसके विचार से धर्म राज्य की सुख सम द्धि के लिए आवष्यक है। धर्म को महत्वपूर्ण स्थान राज्य के भीतर ही दिया जाएगा उससे बाहर या ऊपर नहीं। राज्य के सम्बन्ध में मैकियावली धर्म, नैतिकता और सामाजिक सदाचार के नियमों को उसी सीमा तक उपयोगी मानता है जिस सीमा तक के राजनीतिक लक्ष्यों की सिद्धि में सहायक होते हैं। इस दृश्टि से मैकियावली इन सिद्धान्तों को स्वीकार करने में संकोच नहीं करता कि ष्साध्य ही साधनों के औचित्य की कसौटी है या ष्क्ति ही सबकुछ है या ष्आवष्यकता कानून को नहीं देखता ।

मैकियावली के चिन्तन की उपर्युक्त विषेशता को देखते हुए स्पश्ट है कि उसे किसी विचारह द्वारा विभेद में विश्वास रखने वालों की श्रेणी में नहीं रखा जा सकता। उसकी अपनी एक अलग विचारह रा है। राजनीति विज्ञान के अन्तर्गत इसे ष्मैकियावलीवादष के नाम से जाना जाता है। राजनीति में जब इस भाब्द का प्रयोग किया जाता है तो उसका एक विषेश अर्थ होता है। जिसे अधिक स्पश्ट करने की आवष्यकता नहीं होती। नाम से ही उसका अर्थ आप समझ में आ जाता है। मैकियावली के राजनीतिक विचार मैकियावली क्लासिक राजनीतिक

सिद्धान्तवादी नहीं है फिर भी व्यवहारिक राजनीति की पुश्टि करेन के लिए उसने कुछ सिद्धान्तों का सहारा लिया, जिनके माध्यम से हम उसके राजनीतिक विचारों का परिचय पाते हैं ।

इकाई – 5 मैकियावली के चिंतन के प्रमुख विशेषताएँ

मानव स्वभावं रू सार्वभौतिक अहंवाद

मैकियावली ने राजनीति के सम्बन्ध में जो कुछ कहा है, उसके मूल में एक विषिश्ट धारणा कार्य कर रही है। वह धारणा यह है कि मानव प्रकृति मूलतः स्वार्थी है। राजनेता के प्रेरक उद्देष्य सदैव अहंवादी होने चाहिए। जन साधारण सदैव सुरक्षा चाहता है और भासक भाक्ति । भाासन की स्थापना का उद्देष्य ही यह है कि व्यक्ति कमजोर होता है। मनुश्य की प्रकृ ति बहुत अधिक आक्रमणषील और अर्जनषील है। मनुश्य की इच्छाओं पर कोई नियंत्रण नहीं है। उन पर एक मात्र नियंत्रण प्राकृतिक दुर्बलता का है। प्रिंस के सत्रहवें अध्याय में मनुश्य स्वभाव का चित्रण करते हुए—मैकियावली ने लिखा है, श्सामान्य रूप से मनुष्य के बारे में यह कहा जा सकता है कि वे क तघ्न, ठुल— मुल, झूठे, कायर, लोभी होते हैं।श जब तक आपको सफलता मिलती है, वे पूर्ण रूप से आपके बने रहेगें। वे आपके लिए उस समय तक अपना रक्त, सम्पत्ति, जीवन और बच्चों का बलिदान करने के लिए तैयार रहेंगे जब तक इनकी आवष्यकता दूर रहती है, क्योंकि आवष्यकता शनिकंट आती है तो वे आपके विरूद्ध विद्रोह कर देते हैं मनुश्य किसी से तभी तक प्रेम करते हैं जब तक उनका स्वार्थ सिद्ध होता है, जब उनका स्वार्थ सिद्ध नहीं होता तो वे विद्रोह कर देते हैं।श श्मनुश्य स्वाभाव में सम्पत्ति के प्रति सम्भव की सघनता की ओर संकेत करते हुए वह कहता है कि श्वह अपने पिता की मृत्यु को तो भीघ्र भूल जाता है किन्तु पितृधन की हानि को नहीं भूलता।श फलतः मनुश्य सदैव ही संघर्श एवं प्रतियोगिता की स्थिति में रहते हैं। यदि इस संघर्श एंव प्रतियोगिता पर विधि पर अंकुषल न हो तो समाज में अराजकता फैल सकती है। भांसक की भाक्ति अराजकता की सम्भावना पर और इस धारणा पर कि भाक्तिषाली भासन होने पर ही सुरक्षा कायम रह सकती है. आधारित है। मैं कियावली ने भासन के सम्बन्ध में इस धारणा को स्वतः सिद्धतन किया है।

मैकियावली ने इस बात पर विषेश जोर दिया है कि सफल भाासक को सम्पत्ति और जीवन की सुरक्षा की ओर विषेश ध्यान देना चाहिए क्योंकि मनुश्य की प्रकृति में यही सबसे सार्वभौम इच्छाएं हैं। अत्याचारी भाासक मार सकता है, लूटपाट नहीं कर सकता। मैकियावली की विचारधारा के इस पहलू को जब हम व्यवस्थित मनोविज्ञान के द्वारा पूर्ण करते हैं तो वह हान्स का राजनैतिक दर्षन बन जाता है। मैकियावली की मानव प्रकृति की निकृश्टता अथवा अहम मान्यता में इतनी दिलचस्पी नहीं है जितनी इस बात में कि इन बुराईयों के कारण इटली के समाज की बहुत अधिक अधोगति हो गयी. थी । उसके विचार में इटली भ्रश्ट समाज का सजीव उदाहरण था । भ्रश्टाचार से मैकियावली का अभिप्राय लोगों में व्यक्तित्व, ईमानदारी और निश्ठा के अभाव से है। इन त्रुटियों के कारण लोकषासन असम्भव हो जाता है। भ्रश्टाचार में सब तरह की उच्छंष्खलता और हिंसा, धन और सम्पत्ति की विशमताएँ, भ्रांति और न्याय का नाष, अव्यवस्थित महत्वकांक्षा, फूट, अराजकता, बेईमानी और धर्म के प्रति घष्णा भामिल है। जब आवष्यक गुणों का पतन हो जाता है तो केवल निरंकुष भाकित ही उनकी प्रतिश्ठा कर सकती है। नैतिक भ्रश्टाचार के अतिरिक्त मानव प्रकृ त की स्वाभाविक आक्रमणषीलता संघर्श और प्रतियोगिता को प्रत्येक समाज का सामान्य लक्षण बना देती है। प्रत्येक भाासन को पंग—पग पर जिस असफलता का सामना करना

पड़ता है, उसका यही कारण हैरू श्मनुश्य सदैव यह भक्ति करते हैं कि वे यह नहीं जानते कि अपनी आषाओं को कब सीमित किया जाए ।श इसी कारण मैकियावली ने मिश्रित अथवा संतुलित संविधान के प्राचीन सिद्धान्त को फिर से प्रतिश्ठित किया। उसने षडिसकोर्सेजष के आरम्भ में पोलिविलियम की हिस्ट्रीज पुस्तक के छठे अध्याय में वर्णित संविधान चक्र के सिद्धान्त को भाब्दषरू स्वीकार किया है। मैकियावली भासक के द्वारा नियंत्रण में रहता था। इस दिषा में मैकियावली के दर्षन के व्यवस्थित आख्यान के लिए सम्प्रभुता सम्बन्धी उस संकल्पना की आवष्यकता थी जिसका विकास आगे चलकर बोंदा और हाब्स ने किया। मनुश्य चरित्र में व्याप्त कृप्रवषत्तियों के दमन के लिए मैकियावली भासक को सख्ती का प्रयोग करने का परामर्ष देता है। मैकियावली ष्भय बिन होय न प्रीति के सिद्धान्त में विश्वास करता है, जो भाासक के भाक्तिषाली होने पर ही सम्भव हो सकता है। इसलिए भासक को निरन्तर अपनी भाक्ति को बढ़ाते रहना चाहिए। इसी में उसकी सफलता एवं सुदृढ़ता का रहस्य निहित है।

धर्म एवं नैतिकता रू नैतिक उदासीनता

राजनीति विज्ञान में सबसे पहले और स्पश्ट रूप से राजनीति से धर्म एवं नैतिकता को प थक करने का श्रेय मैकियावली को प्राप्त है। प्लेटो राजनीतिषास्त्र को नीतिषास्त्र का ही एक अंग मानता था और अरस्तु राज्य को नीतिषास्त्र के लक्ष्यों को प्राप्त करने का एक साधन । राजनीति के क्षेत्र में सर्वप्रथम मार्सिलियों ने धर्म निरपेक्ष विचारधारा का प्रतिपादन किया था, किन्तु वह धर्म को राज्य से अलग नहीं करता। सेबाइन ने इस ओर संकेत करते हुए कहा कि श्मर्सिलियो ने इसाई नैतिकता, को पारलौकिक कहते हुए विवेक की स्वायत्तता का प्रतिरक्षण किया, मैकियावली की दृष्टि में क्योंकि वह पारलौकिक थी, अतः उसने उसे पूर्णतया तिरस्क त किया ।श मैकियावली धार्मिक पचड़ो से बिल्कुल मुक्त है। मैकियावली के चिंतन का मुख्य लक्ष्य राज्य का संरक्षण और उसका विस्तार करना है, जबकि नैतिकता का उद्देष्य मनुश्य के नैतिक विकास से है। उद्देष्य की भिन्नता के कारण राज्य एवं व्यक्ति को एक ही स्तर पर नहीं रखा जा सकता। मैकियावली ने दो प्रकार के नैतिकता का विधान किया है। भाासक के लिए एक प्रकार की नैतिकता और व्यक्तिगत नागरिक के लिए दूसरे प्रकार की। पहले की कसौटी यह है कि वह राज्य की भाक्ति की रक्षा और व द्वि में कहाँ तक सहायक हैं। दूसरे की कसौटी यह है कि वह सामाजिक वर्ग को कहाँ तक भक्ति प्रदान कर पाता है। चूँकि भासक इस वर्ग से बाहर है अथवा उसका इस वर्ग विषेश से सम्बन्ध है, इसलिए वह इस वर्ग में आरोपित की जाने वाली नैतिकता से भी ऊपर है। व्यक्ति एवं राज्य के उद्देष्यों की भिन्नता के कारण व्यक्तिगत नैतिकता का अनुसरण करना राजय के लिए हितकर नहीं है। अतः राज्य के हितों को ध्यान में रखते हुए भाासक उन साधनों का प्रयोग करने के लिए भी स्वतंत्र है, जो व्यक्तिगत नैतिकता की दृश्टि से औचित्यपूर्ण न हो

राज्य की आवष्यकतानुसार धर्म विरूद्ध कार्यों का प्रबल समर्थक होते हए भी मैकियावली धर्म एवं नैतिकता का राजनीति पर पड़ने वाले सकारात्मक प्रभावों का बड़ा हिमायती रहा है। भासक साध्य को प्राप्त करने के लिए अनैतिक साधनों का प्रयोग कर सकता है लेकिन इसमें कोई संदेह नहीं कि जनता का नैतिक भ्रश्टाचार श्रेश्ठ भाासन का निर्माण असम्भव कर देता है। उसका कथन है कि श्धार्मिक नियमों का पालन गणराज्यों की महानता का कारण होता है। इसकी उपेक्षा राज्यों के विनाष को उत्पन्न करती है। जहाँ ईश्वर का भय

नहीं होता, वहाँ यदि राजा का भी भय हो तो राज्य जल्दी नश्ट हो जाएगा। राज्य का भय कुछ समय के लिए धर्म के अभाव की पूर्ति कर सकता है। किन्तु राजाओं का जीवन क्षण भंगुर होता है। जो राजा एवं गणराज्य अपने को बनाये रखना चाहते हैं उन्हें धार्मिक विधियों की पवित्रता को सुरक्षित रखना चाहिए, इनके प्रति उचित श्रद्धा का व्यवहार करना चाहिए। सब मनुश्यों में सबसे अधिक प्रषंसा के योग्य वे ही व्यक्ति हैं जिन्होंने धर्म की स्थापना की है। इसके बाद गणराज्यों और राज्यों के संस्थापकों की स्तुति की जाती है।श भासक के दण्ड के भय के आलावा राज्य सेवा के लिए कुछ और प्रेरणा होनी चाहिए ताकि आज्ञापालन करते समय नागरिक उत्साह अनुभव करे और ऐसी परिस्थितियों में भी उसकी निश्ठा पर कोई आँच न आये जब वे आँख बचाकर अवज्ञा कर सकते हों और उनकी चोरी पकड़े जाने का अंदेषा न हो। यह प्रेरणा धर्म प्रदान करता है। मैकियावली इसाई धर्म के साथ–साथ पोप को इटली के एकता में सबसे बड़ा बाधक मानता था । उसने लिखा कि श्हम इटालियन रोम के चर्च और पुरोहित के कारण अधार्मिक ही नहीं हुए अपितु वह हमार विनाष का कारण भी है। उसने हमारे देष को विभक्त कर रखा है।श चर्च एवं धर्म के सम्बन्ध में उसकी मान्यता थी कि वे राज्य से स्वतंत्र एवं उच्च नहीं होने चाहिए वरन् राज्य के उद्देष्यों की पूर्ति के साधनों के रूप में उन्हें राज्य के अधीन होने चाहए।

राज्य एवं भासन सम्बन्धी विचार

मैकियावली ने राज्य की उत्पत्ति का कारण मनुश्य के स्वार्थ को बताया है। अरस्तु के विपरीत राज्य प्राकृतिक संस्था न होकर मानवीक त और क त्रिम संस्था हैं। वह कहता है श्मनुश्य का स्वार्थ और भाक्ति की आकांक्षा राज्य को जन्म देती है और इसलिए राज्य को अपने अस्तित्व को बनाये रखने के लिए मनुश्य की इन आकांक्षाओं की निरन्तर पूर्ति करते रहना चाहिए, क्योंकि उसकी मान्यता है कि अगर उसका विस्तार रूक गया तो उसका विनाष हो जायेगा। जब सभी मानवीय व्यवहार गतिषील हैं तो राज्य के लिए निष्चल पड़ा रहना सम्भव नहीं है। या तो वह अपने आप का विस्तार करे नहीं तो उसका विनाष अनिवार्य हैं।श राज्य के सम्बन्ध में मैकियावली की संकल्पना सजीव सत्ता के अनुरूप है। कोई राज्य किसी विषेश संरचना के आधार पर संगठित होकर राज्य बना है जैसा कि भारीर भी अपने अंगों के विषेश संरचना के आधार पर सावयव सत्ता का रूप ध धारण करता है। राज्य के संदर्भ में यह संरचना उन कानूनों और संस्थाओं से बनती है जिनके द्वारा लोगों पर भासन किया जाता है। स्वतंत्र एवं परतंत्र राज्य का भेद इस बात पर निर्भर है कि नागरिक इन कानूनों का पालन स्वेच्छा से करते हैं या विवष होकर । मैकियावली राज्य को परिवर्तनषील मानता है, जिसका उत्थान और पतन होता है। इस दृश्टि से वह राज्यों के दो रूप बतलाता है । (1) स्वस्थ राज्य और (2) अस्वस्थ राज्य । स्वस्थ राज्य निरन्तर गतिषील एवं एकताबद्ध होता है । अस्वस्थ राज्य एक ऐसा राज्य होता है जो गतिहीन होता है और उसका विकास अवरूद्ध होता है।

बहुत से प्राचीन यूनानी – रोमन विचारकों की भाँति मैकियावली भी सरकार अथवा भासन तंत्र के छः प्रकार स्वीकार करता है। उनमें से तीन सभी प्रकार से बुरे हैं और अन्य तीन अपने आप में अच्छे हैं। लेकिन इन्हें बनाये रखना कठिन है, इसलिए वे भी घातक बन जाते हैं। हर श्बुराश भासन तन्त्र अपने समवर्ती अच्छे भासन तंत्र से इस बात में समान होता है कि वे सहजता से एक दूसरे मं बदल जाते हैं, यथा राजतंत्र निरंकुष तंत्र में अभिजात तंत्र अल्प तंत्र में और जनतंत्र पूर्ण उच्छृंखलता, यानी भीड़तंत्र में ! उपरोक्त रूप एक निष्चित

क्रम में बदलते है। आरम्भ में यह परिवर्तन श्रृंखला इस प्रकार थी रू राजतंत्र, निरंकुष तंत्र, अभिजाततंत्र, अल्पतंत्र, जनतंत्र और भीड़तंत्र द्य यह वह चक्र है जिसके अन्दर सभी राज्यों के भासन घूमे हैं और घूम रहे हैं किन्तु वे उस भासन तंत्र की ओर विरले ही लौटते हैं, जिससे निकले हैं, क्योंकि उनमें से विरलों में ही इतनी भाक्ति बची रह पाती है कि नश्ट हुए बिना इस चक्र से कई बार गुजर सकें। भासन पद्धतियों के चक्रानुक्रम की यह संकल्पना स्पश्टतः प्राचीन राजनीतिक विचारकों, प्लेटो, अरस्तु, पोलिथियस से उधार ली गयी है. किन्तु नई ऐतिहासिक परिस्थितियों के दृश्टिगत मैकियावली ने उसमें कई महत्वपूर्ण संषोधन किये हैं। मैकियावली ६ धर्मषास्त्रीय व्याख्याओं को अमान्य ठहराकर राजनीति के युद्ध आनुभाविक, लौकिक तत्वों को ढूंढने का प्रयास करते हैं। वह भासन पद्धतियों के परिवर्तन को देवी इच्छा से नहीं, अपितु किन्हीं निष्चित पद्धतियों और भाक्ति संतुलनों की नियम संगत पुनरावृत्तियों वसे सम्बद्ध मानते हैं। उनके अनुसार यह इसी का परिणाम है कि कभी राजा सत्ता में आता है, कभी अभिजात वर्ग और कभी जनता । मैकियावली राजतंत्र, अभिजात तंत्र और जनतंत्र इन तीनों को मिलाकर बनायी गयी भासन पद्धति को सर्वोत्तम मानते हैं क्योंकि उनमें से हर एक दूसरे पर नियंत्रण एवं निगरानी रखता है।

गणतंत्रवाद एवं राश्ट्रवाद

जिन्होंने केवल ष्द प्रिंसष् को पढ़ा है वे सोच सकते हैं कि मैकियावली का राजनीतिक सिद्धान्त थ्रेसीमेक्स से बहुत भिन्न नहीं हैं। ष्द प्रिंसष् उसकी प्रमुख क ति अवष्य है, परन्तु उसका सारा चिंतन इसी में नहीं भरा है। ष्द प्रिंसष् के चेप्टर ८ और ८८ में स्वयं मैकियावली ने कहा है श्मनुश्यों के ऊपर जिन भी राज्यों या सरकारों का भासन रहा है वे या तो गणतंत्र होते हैं या राजतंत्र द्य गणतंत्रों के बारे में यहां कुछ भी नहीं कहूँगा क्योंकि मैं उस पर इनकी विस्त त चर्चा कर चुका हूँ। यहाँ मैं केवल राजतंत्रों का विवेचन करूँगा ।श यहाँ मैकियावली का संकेत जिस क ति की ओर है वह है श्डिसकोर्सेजश। इसमें लोकतंत्र एवं राजतंत्रों में वही भेद माना गया है जो स्वतंत्र एवं परतंत्र राज्यों में होता है। गणतंत्रों को अपनी मूल प्रकृति की दृश्टि से भी राजतंत्रों से श्रेश्ठ माना गया है और अनेक विषिश्ट गुणों की दृश्टि से भी । परन्तु गणतंत्र एक ऐसी भासन व्यवस्था है जिसे अपनाने की योग्यता प्रत्येक जाति में नहीं होती। इस संभालने के लिए उस जाति में सद्‌गुण की मात्रा अधिक होनी चाहिए। लोगों में सद्‌गुण का जितना अभाव होता है, उतने ही वे भ्रश्ट हो जाते हैं, और भ्रश्ट लोगों पर किसी न पति या तानाषाह का भासन होना चाहिए क्योंकि वे अपने आपको अनुषासन में रखने में असमर्थ होते हैं ।

मैकियावली की धारणा है कि राजा की तुना में सर्वसाधारण अधिक विवेकषील, स्थिर चित्त होते हैं और निर्णय बुद्धि अधिक उन्नत होती है। यदि हम एक ओरऐसे राजा को देखें जिस पर कानून का अंकुष हो और दूसरी ओर ऐसी जनता को जिस पर कानून का अनुषासन हो तो हमें उस राजा की अपेक्षा ऐसी जनता में अधिक ष्सद्‌गुणष् देखने को मिलेगा और यदि इन दोनों की तुना तब करे जब इन्हें नियंत्रण से मुक्त कर दिया जाए तो हम देखेंगे कि जनता उतनी ज्यादतियाँ नहीं करती जितनी की राजा करता है।

मैकियावली रोम गणराज्य की स्वतंत्रता एवं स्वषासन का प्रषंसक था । यद्यपि उसके निरंकुष राजतंत्र सम्बन्धी विवरण में इसकी कोई झलक नहीं मिलती। लेकिन उसने स्पश्ट रूप से कहा है कि जहाँ भासन में बहुत से लोगों का हाथ होता है, वहाँ भासन अधिक स्थिर

होता है। मैकियावली आनुवांषिक भाासकों की अपेक्षा निर्वाचित भाासकों को अधिक पसंद करता है। उसका विश्वास था कि लोगों को स्वतंत्र और सषक्त होना चाहिए। उन्हें युद्धवीर बनाने का एकमात्र उपाय यह है कि उन्हें विद्रोह के साधन दिये जाये। भ्रश्टाचार रहित लोगों में सद्गुण और विवेक भाासक की तुलना में अधिक मात्रा में पाया जाता है । अपने समय के किसी अन्य विचारकों की अपेक्षा वह ज्यादा अच्छी तरह समझा था कि कुलीन वर्ग के हित राजतंत्र के भी विरुद्ध हैं और मध्यवर्ग के भी । सुव्यवस्थित भासन के लिए उनका दमन अथवा विनाष आवष्यक है। मैकियावली को जहां कुलीन वर्ग से अरुचि है. वहाँ वह भाड़े के सिपाहियों से भी घष्णा करता है। मैकियावली का नागरिक सेना में विश्वास था । इनका कारण यह था कि मैकियावली में राश्ट्रीय भावना कूट–कूट कर भरी हुई थी और वह इटली का एकीकरण करना चाहता था। उसने यह साफ–साफ कहा है कि मनुश्य का सबसे बड़ा कर्तव्य अपने देष के प्रति है। मैकियावली का कथन है कि, श्जहाँ देष की सुरक्षा खतरे में हो वहां न्याय अथवा अन्याय, उदारता अथवा क्रूरता, गौरव अथवा लज्जा का कोई विचार नहीं करना चाहिए। उस समय सब बातों को छोड़कर केवल एक प्रष्न की ओर ध्यान देना चाहिए कि देष के जीवन और स्वतंत्रता की रक्षा कि उपाय से की जा सकती है।श मैकियावली ने निरंकुष और नष्षांत भाक्ति का जो आदर्षीकरण किया है उसके मूल में यही भावना निहित है। मैकियावली की विचारधारा का प्रेरक उद्देष्य इटली में भाांति और एकता की स्थापना करना था। मैकियावली ने देखा था कि फ्रांस एवं स्पेन में राश्ट्रीय एकता की स्थापना निरंकुष भाासकों ने की है। उसका विचार था कि इटली में भी इस एकता की स्थापना कोई निरंकुष भाासक ही कर सकता है।

सर्वषक्तिषाली विविधकर्ता

मैकियावली ने अपनी विचारधारा में विधि और विधि–निर्माता को महत्वपूर्ण स्थान प्रदान किया। इटली की विषेश परिस्थितियों में निरंकुष राजतंत्र का पक्ष ग्रहण करते हुए भी मैकियावली की सामान्य इच्छा एक उदारवादी और वैधानिक राज्य की स्थापना की ही थी। मैकियावली विधिकर्ता को राज्य एवं समाज में सर्वोपरि स्थान प्रदान करता है। आचार एवं नागरिक सद्गुण विधि पर आध पारित होते हैं। विधिकर्ता केवल राज्य का निर्माता नहीं है वह सम्पूर्ण समाज या समाज की नैतिक, धार्मिक और आर्थिक संस्थाओं का निर्माता है। मैकियावली को विश्वास है कि एक नवीन राज्य की स्थापना में एक बुद्धिमान विधि निर्माता की अत्यन्त आवष्यकता होती है, चाहे वह एक व्यक्ति हो या संस्था द्य पतनोन्मुखी समाज का उद्धार एक बुद्धिमान विधि निर्माता द्वारा ही हो सकता है। मैकियावली के इन अतिरंजित विचारों के अनेक कारण थें। कुछ अंषों में यह विविधकर्ता उस प्राचीन कल्पना का जो मैकियावली को सिसरो और पोलिवियस जैसे लेखकों से प्राप्त हुई थी, पुनराख्यान मात्र था। कुछ अंषों में यह सोलहवी भाताब्दी के इटली की जर्जर अवस्था से प्रभावित थी । उसके समय की परिस्थितियों ने उसे यह समझने की प्रेरणा दी कि एक निरंकुष भाासक ही राश्ट्र के भाग्य का विध ता हो सकता है। उसका तर्क है कि यदि मनुश्य स्वभाव से अहंकारी है तो केवल राज्य और विधि की भाक्ति ही समाज को एकता के सूत्र में बाँधे रख सकती है और नागरिकों के नैतिक दायित्वों को कार्यान्वित कर सकती है। मैकियावली के इन सुझावों को व्यवस्थित रूप देने का श्रेय हान्स को जाता है

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर आचरण के उस दोहरे मानदण्ड को जिसमें राजा (राजनेता) के लिए एक प्रकार का आचरण और व्यक्तिगत नागरिक के लिए दूसरे प्रकार का आचरण

बतलाया गया है, आसानी से समझा जा सकता है। यह दोहरे प्रकार के आचरण का सिद्धान्त ही मैकियावलीवाद है। भाासक राज्य का सष्टा होने के कारण न केवल विधि के बाहर ही है अपितु यदि विधि आचारों का निर्माण करती है तो वह नैतिकता के बाहर भी है। भासक के कार्यों को परखने की केवल एक ही कसौटी है कि वह अपने राजय की भाक्ति को कहाँ तक बढ़ा सकता है और उसकी कहाँ तक रक्षा कर सकता है। मैकियावली ने यह निश्कर्श जिस निश्पक्षता के साथ स्वीकार किया है और जिस उत्साह से भाासकों को सलाह दी, वहीं षप्रिंसष की बदनामी का प्रधान कारण है। मैकियावली ने सर्वषक्तिमान विविधकर्ता सम्बन्धी अपनी धारणा के आधार पर भी राजनैतिक निरंकुषता के किसी सामान्य सिद्धान्त का निरूपण नहीं किया। यह कार्य बाद में हाब्स ने किया। मैकियावली के निर्णय पर दो बातों का प्रभाव पड़ा था। वह साधन सम्पन्न निरंकुष भासिंक की सराहना करता था और स्वषासी जनता के प्रति भी सराहना का भाव था । ये दोनों बातें संगत नहीं थी । उसने इस दोनों को आपस में मला दिया। उसने अपनी एक धारणा के आधार पर राज्य के निर्माण का सिद्धान्त विकसित किया और दूसरी के आधार पर उसकी रक्षा का सिद्धान्त। आधुनिक भाब्दावली में कहा जा सकता है कि उसका एक सिद्धान्त क्रांति के लिए था और दूसरा भाासन के लिए। इसलिए उसने निरंकुषलता की केवल दो विषेश अवस्थाओं में ही सिफारिष की है। एक तो राज्य निर्माण के लिए निरंकुषता की जरूरत पड़ती है और दूसरे भ्रश्ट राज्य में सुधार लाने के लिए। निरंकुष हिंसा एक भाक्तिषाली राजनैतिक औशधि है । वह भ्रश्ट राज्यों में और विषेश आपातकालों में समस्त राज्यों में जरूरी है। लेकिन फिर भी वह एक विश है और उसका अधिक से अधिक सावधानी से प्रयोग किया जाना चाहिए।

राजा या भाासक

मैकियावली भाासक को कुछ सलाह एवं परामर्ष देते हैं, जो ऐसी परिस्थितियों में नये राज्य के निर्माण के लिए प्रयत्न कर रहा है, जबकि प्रजा श्भ्रश्ट और हतोत्साहित है । भाासक को कठोर भाासन के सिद्धान्त की पालना करनी चाहिए; राज्य के सुदृढ़ीकरण के लिए हर प्रकार के साधन को अपनाना चाहिए और आवष्यक हो तो निर्ममता भी दिखानी चाहिए। इसलिए मैकियावली के सिद्धान्त

• का एक अभिगष्हीत यह भी है कि श्यदि कोई आदमी हर हालत में निर्दोश और ईमानदार बने रहने का आग्रह करता है तो भ्रश्ट बहुसंख्या के बीच में उसका देर–सवेर विनाष अनिवार्य है ।श मैकियावली के अनुरूप भाासक का प्रयत्न होना चाहिए कि लोग उसे सद्‌गुणी, दयालु, ईमानदार, परहित चिंतक और उदार हृदय समझे, न कि क्रूर, कंजूस, विश्वासघाती और दुश्ट। किंतु यदि ईमानदारी एवं अन्य अच्छाइयाँ उसके लिए काँटा बन जाती है और देष की एकता तथा जनसाधारण की वफादारी के बने रहने में बाधक होती है, तो भाासक को छल कपट और चालाकी और आत्मनियंत्रण को पूर्व प्रतीक होना चाहिए। वह गुणों एवं अवगुणों दोनों का समान रूप से लाभ उठाता है। एक प्रकार से वह सोलहवीं भाताब्दी के इटली के अत्याचारी भाासक को आदर्षीकृत चित्र है। वह एक ऐसे व्यक्ति का वास्तविक, हांलाकि कुछ अतिष्योक्ति पूर्ण चित्र है जिसे निरंकुष भाासकों के रोग ने राजनैतिक जीवन के रंगमंच पर खड़ा किया। मैकियावली साधन सम्पन्न भाासक की सराहना करता था चाहे वह चालबाज क्यों न हो, वह राजनीति में दुर्बल उपायों का कायल नहीं था। उसके विचार से राजनीति में दुर्बल उपाय दुर्बलता के कारण किये जाते हैं, किसी नीतिमत्ता के कारण नहीं। देष की एकता एवं जन साधारण की वफादारियों को बनाये रखने

के लिए प्रयुक्त साधनों और तरीकों में मैकियावली सैनिक ताकत, राजनयिक चतुराई, विद्धधता और न्याय संगत कठोरता को भी मिलाते हैं। राजनीतिक आचरण के नियमों एवं तरीकों से सम्बन्धित मैकियावली के विचार अमूर्त न्याय अथवा ईसाई नैतिकता के मानदण्डों पर आधारित नहीं है। उनकी सलाहे युद्ध व्यवहारिक है और राजनीतिक ध्येय की प्राप्ति को ही सर्वोपरि की विद्यमानता को उभारा और नैतिकता तथा धर्म से राजनीति के पार्थक्य की सम्भावना तथा औचित्य को प्रदर्षित किया। जैसा कि अत्रेनियों गाम्षी लिखते हैं, मैकियावली का उद्देष्य मात्र यह ठोस रूप से दिखाना है कि कारगर होने के लिए एतिहासिक भाक्तियों को कैसे काम करना चाहिए।

असंगतियाँ

मैकियावली को पक्का सनकी, देषभक्त, कट्टर राश्ट्रवादी, राजनैतिक जोवीट, सच्चा लोकतंत्रवादी और निरंकुष भाासकों का अंध कृपाकांक्षी कहा जाता है। ये सभी विचार एक दूसरे के विरोधी हैं। इनमें से कोई भी एक विचार मैकियावली की या उसकी विचारधारा की पूरी तस्वीर नहीं प्रस्तुत करता। वह राजनीति, राज्यषिल्प और युद्ध कला के अतिरिक्त न तो किसी चीज के बारे में सोचता है और न किसी के बारे में लिखता है। गहरे सामाजिक, आर्थिक और धार्मिक प्रष्नों के सम्बन्ध में उसे अलग से कोई रूचि नहीं है। मैकियावली इतना अधिक व्यवहारिक था कि वह दार्षनिक दृश्टि से अधिक गहरा न हो सकता। लेकिन युद्ध राजनीति में वह अपने समस्त सहसामयिकों से आगे बढ़ा हुआ था फलतः मैकियावली की विचारधारा में अनेक त्रुटियाँ और असंगतियाँ भी आ गयी ।

मानव स्वभाव के सम्बन्ध में मैकियावली का दृश्टिकोण एकांकी एंव असहमतिपूर्ण है। एक ओर तो वह कहता है कि मनुश्य सदैव दुश्टता की ओर प्रवष्त रहते हैं, दूसरी ओर वह कहता है कि राश्ट्रों के रूप में संगठित होकर मनुश्य एक ऐसे अधिकार के साथ बोल सकते हैं, जिसकी तुलना ईश्वरीय वाणी से की जा सकती है। वह राजनीति में धर्म एवं नैतिकता की घोर उपेक्षा करता है और साध्य को ही साधन की कसौटी मानता है। मूलतः यह विचारधारा गलत परिणामों को जन्म देने वाली है। नैतिकता को राजनीति का अनुगामिनी बनाना वस्तुत राजनीति को भ्रश्ट होने का मार्ग खोल देता है। स्वाधीनता पूर्व भारत के एक प्रमुख कवि तथा दार्षनिक मोहम्मद इकबाल का मानना है कि पूँजीवादी समाज के नैतिक पतन का कारण, अधार्मिकता, निरपेक्ष नैतिक मूल्यों का अभाव और राश्ट्रवाद का प्रभाव है जिसने ईसाईयत की सार्वभौमिक धार्मिक नैतिकता के स्थान पर राश्ट्रीय नैतिक पद्धतियों को प्रतिश्ठापित किया। इकबाल के अनुसार, श्षैतान का भेजा हुआ फ्लोरेंस वासीष इसी नये (नास्तिक) धर्म का मूर्तिमान रूप था। मैकियावली के मुँह से नये धर्म ने राज्य को एकमात्र पूज्नीय वस्तु घोशित किया, झूठ को प्रतिश्ठा दिलाई और शड़यंत्रों को कला बनाया। महात्मा गाँधी ने भी अभूर्व नैतिक मान्यताओं के आधार पर मैकियावली की निरपेक्ष नैतिक मूल्यों के अभाव के लिए आलोचना की थी।

मैकियावली की राजनीतिक विचारधारा में कुछ आधारभूत त्रुटियाँ हैं । जो दर्षन राजनीति की सफलता एवं असफलता के लिए राजनेताओं की प्रतिभा अथवा मूर्खता को उत्तरदायी ठहराता हो, वह अयथेष्ट सही होगा। मैकियावली का विचार था कि चतुर राजनीतिज्ञ समाज की नैतिक, धार्मिक और आर्थिक भाक्तियों का राज्य के लाभ के लिए प्रयोग कर सकता है। यदि ये भाक्तियाँ न हों तो वह राज्य के लाभ के लिए इन्हें उत्पन्न कर सकता है। यह न

केवल सार्थक मूल्यों का ही बल्कि प्रत्युत कार्य कारण सम्बन्धों का भी पर्याय है। जैसा कि सेबाइन ने कहा है कि मैकियावली अपने युग के चिंतन को सही ढंग से प्रस्तुत नहीं कर सकता। सेबाइन का कथन है कि श्यह निष्चित है कि 10वीं भाताब्दी के आरम्भ में यूरोपीय चिंतन की जो स्थिति थी उसे मैकियावली ने बिल्कुल समग्र रूप से चित्रित कियां उसकी दो पुस्तकें उस दिन से 10 वर्श के भीतर लिखी गयी थी, जिस दिन मार्टिन लूथर ने विट्टनवर्ग चर्च के द्वार पर अपने मंतव्यों को टांका था। धर्म सुधार आन्दोलन के कारण राजनीति व राजनीतिक चिंतन का धर्म के साथ और धार्मिक मतभेदों से इतना घनिश्ठ सम्बन्ध स्थापित हुआ जितना कि मध्ययुग में और कभी नहीं रहा था। धर्म के प्रति मैकियावली की रचना के बाद की सीमित बहुत दो भाताब्दियों के बारे में उसकी बातें सच नहीं हैं। इस दृश्टि से मैकियावली का दर्षन और काल की दृश्टि से संकुचित था ।

मैकियावली ने ऐतिहासिक पद्धति का गलत प्रयोग किया। उसने इतिहास के निश्पक्ष और तुलनात्मक अध्ययन के आधार पर अपने मतों और सिद्धांतों को निर्धारित नहीं किया बल्कि अपने पूर्व कल्पित निश्कर्शो की पुश्टि के लिए उसका प्रयोग किया। मैकियावली ने व्यवहारिक राजनीति को इतना अधिक महत्व दिया कि राजनीति के मौलिक प्रष्नों की उपेक्षा की गयी। मैकियावली आधुनिक राजनीतिक चिंतन के जनक के रूप में राजनीतिक चिंतन पर छाये धार्मिक प्रभाव ने मैकियावली के मानस में गहरी प्रतिक्रिया को जन्म दिया। राजनीतिक दृष्टि से मध्ययुग को अन्धकारयुग कहा जाता है क्योंकि स समय धर्म के प्रभाव से राजनीतिक चिंतन का स्वतंत्र अस्तित्व ही समाप्त हो गया था। राजनीतक चिंतन की धर्मषास् और कुंठित करने वाले अस्कोलोस्टिकवाद से मुक्ति आधुनिक राजनीति विज्ञान के विकास की दिषा में पहला कदम था और इसका सारा श्रेय मैकियावली को जाता है। मैकियावली ने राजनीतिक चिंतन को यर्थाथवादी और वैज्ञानिक आधार प्रदान किया। मध्ययुग की कल्पना प्रधान निगमनात्मक अध ययन पद्धति के स्थान पर उसने यर्थाथवादी आगमनात्मक एंव एतिहासिक पद्धति का प्रयोग किया। जैसा कि हर्नषा का कथन है कि श्मैकियावली का प्रमुख योगदान उसके द्वारा राजनीतिक चिंतन की विधि में लाया गया परिवर्तन है । धर्म के साथ–साथ मैकियावली ने राजनीति को नैतिकता के बंध न से मुक्त किया। मैथ्कयावली ने राजनीतिक एवं वैयक्तिक नैतिकता में भेद किया है उद्देष्यों की भिन्नता के कारण वैयक्तिक नैतिकता के मानदण्ड राज्य पर लागू नहीं होते। राज्य एवं नैतिकता के सम्बन्ध में मैकियावली की प्रस्थापना ने राज्य को नैतिकता निरपेक्ष और स्वतंत्र चरित्र बना दिया।

आधुनिक समय में सम्प्रभु राज्य की अवधारणा का जो विचार है उसके निर्माण में मैकियावली ने अन्य किसी राजनैतिक विचारक की अपेक्षा अधिक योगदान दिया है। प्रभुसत्ता सम्पन्न राजनैतिक समाज के रूप में आधुनिक भाशाओं में इस भाब्द के प्रचलन का श्रेय मैकियावली की रचनाओं को है । आज राज्य एक संगठित भाक्ति है। अपने राज्य क्षेत्र में वह सबसे ऊँची सत्ता है । अन्य राज्यों के प्रति उसकी नीति आक्रमणषील रहती है। मैकियावली ने इन सारी विषेशताओं का दिग्दर्षन किया था। मैकियावली की रचनाओं के फलस्वरूप ही राज्य आधुनिक समाज में सबसे भाक्तिषाली संस्था बन सका । राज्य के इस विकास को देखते हुए कहा जा सकता है कि मैकियावली ने अपने युग के राजनैतिक विकास की दिषा को सही समझा था। मैकियावली ने अपने चिन्तन के माध्यम से राश्ट्रीयता का समर्थन किया। वह चाहता था कि इटली का राश्ट्रीयता के आधार पर एकीकरण हो और वह

भाक्तिषाली और विकसित राश्ट्र–राज्य का आकार ग्रहण करे। उसने इस हेतु प्रादेषिकता आधार पर इटली के एकीकरण का समर्थन किया। उसके प्रादेषिक के इस समर्थन में ही राश्ट्रीयता के आधुनिक अंकुर विद्यमान थे। इस तरह इटली के राश्ट्रीय एकीकरण का समर्थन कर उसने आधुनिक राश्ट्र राज्यों के विकास का मार्ग प्रषस्त किया। इटली के राश्ट्रीय एकीकरण की आवष्यकता को ध्यान में रखकर ही राजतंत्र का समर्थन करने वाला मैकियावली हृदय से जनतंत्रवादी था और जनतंत्र में भी जनतंत्रात्मक भासन व्यवस्था को सबसे अच्छी भासन व्यवस्था मानता था। राजतंत्र में भी उसने राजा के निर्वाचन का सुझाव दिया। आधुनिक युग में गणतंत्रात्मक भाासन व्यवस्था की लोकप्रियता मैकियावली मकियावली के सही दृश्टिकोण का परिचायक है। उसके इन विभिन्न प्रकार के योगदानों से स्पश्ट है कि मैकियावली धर्म प्रधान मध्ययुगीन राजनीतिक चिंतन से अपना सम्बन्ध विच्छेद कर आधुनिक युग की उन धारणाओं को जन्म देता है जो बाद में विकसित होकर उसकी आधारभूत प्रेरणाएँ बन गयी। मैक्सी ने उसे प्रथम आधुनिक राजनीतिक चिंतक और जोन्स ने उसे आधुनिक राजनीतिक चिन्तन का पिता सही कहा है।

सारांष

राजनीति विज्ञान में मैकियावली द्वारा प्रतिपादित अनैतिक सिद्धान्तों की कटु आलोचना होती रही है। ष्मैकियावलीवादष राजनीतिक में धूर्तता और क्रूरता का पर्याय बन गया। जैसा कि मैकॉले ने लिखा है कि, श्इतिहास में मैकियावली से अधिक बदनाम कोई व्यक्ति नहीं है, उसका वर्णन भौतान के रूप में किया गया है। उसे महत्वकांक्षा, प्रतिषोध, धूर्तता, धोखाधड़ी का आविश्कारक और प्रचारक माना गया है। फलतः आधुनिक राजनीतिक में व्याप्त सम्पूर्ण विशमाओं और भ्रश्टाचारों के लिए उसे ही उत्तरदायी घोशित किया गया है।श अपराध किये बिना राजनीतिक महानता की प्राप्ति मानो असम्भव है। मैकियावली को लोकतंत्र को दूशित करने वाला और राजनीतिक वातावरण को विशैला बनाने वाला बताया गया है। प्रष्न उठता है कि क्या मैकियावली इन सबके लिए उत्तरदायी है?

वास्तव में उसने अपनी रचनाओं में वे ही बातें लिखी हैं जिन्हें राजनेता अक्सर किया करते थे। लेकिन उन पर पर्दा पड़ा रहता था। उसकी सबसे बड़ी विषेशता यह है कि तात्कालीन राजनीतिक जीवन का यर्थाथवादी दृश्टिकोण से सूक्ष्म विष्लेशण करते हुए भाासकों के उन कुकृत्यों को खोलकर रख दिया जिन पर अब तक पर्दा पड़ा हुआ था। उसने तो उसका सिर्फ नग्न चित्र उद्घाटित किया । उसने जिस निर्मम स्पश्टवादिता के साथ उच्च पदों पर प्रतिश्ठित व्यक्तियों में पाये जाने वाले कपटों के दम्मपूर्ण ढोंग का पर्दाफाष किया, उसकी प्रषंसा की जानी चाहिए। उसने ऐसा करके राजनीतिक दर्षन को मध्ययुग के पाण्डित्यपूर्ण अस्पश्टवाद से बचाने में बहुत योगदान दिया और इसलिए उसे आधुनिक युग के महान चिन्तकों में सर्वश्रेश्ठ नहीं तो प्रथम यर्थाथवादी चिन्तक अवष्य माना जाना चाहिए। राजनीतिक विचारों के इतिहास में मैकियावली का सबसे बड़ा योगदान यह नहीं है कि उसने राजनीतिक और राजकीय विधिक परिघटनाओं की एक व्यवहारिक राजनीतिज्ञ और तटस्थ प्रेक्षक के तौर पर जांच की, बल्कि यह है कि उसेन राजा के जीवन का उसे प्रभावित करने वाली सभी बातों, विषेशतः विभिन्न वर्गीय भाक्तियों तथा राजनीतिक गुटों में संदर्भ में अध्ययन किया ।

अभ्यास–प्रष्न

1. मैकियावली का जीवन परिचय दें !

2. मैकियावली के चिंतन की प्रमख विषेशतायें क्या हैं?

3. राजनीति के संबंध में मैकियावली के विचारों को स्पश्ट करें।

4. मैकियावली को आधुनिक राजनीतिक चिंतन के जनक के रूप में देखा जाता है। इस कथन की विवेचना करें।

माड्यूल – 3
आधुनिक पश्चिमी राजनीतिक विचारक

इकाई – 6 जीन मैक्स रूसो का जीवन परिचय

(Jeans Jacques Rousseau) (1712–1778)

रूसों का जीवन परिचय – रूसो का जन्म अत्यन्त ही अषान्ति के युग में हुआ था। रूसों के समय में यूरोप में प्रतिकूल विचारधाराओं का प्रभुत्व था। फ्रांस इनका केन्द्र था। कुछ विचारक. ऐसे थे जो बुद्धिवाद पर बल देते थे, जबकि कुछ दैवी उत्पत्ति के सिद्धान्त का सहारा लेकर निम्न वर्ग की जनता को प्रभावित करते रहते थे। चर्च के धर्माधिकारी राज्य सत्ता के चापलूस बन गये थे । ऐसे वातावरण में जीन जैक्स रूसो (श्रमंद श्रंबुनमे त्वनेमंन) का जन्म 1712 ई० में जेनेवा के गणतन्त्र में हुआ था। रूसों का जन्म होते ही उसकी माता का देहावसान हो गया। उसके पिता ने पड़ोसियों की मदद से उसका पालन–पोशण किया। उसका पिता एक गरीब घड़ीसाज था। उसे दस वर्श की उम्र में ही नौकरी करनी पड़ी, पर वह भी छूट गई। बार में उसे वेनिस में फ्रेंच दूतावास में नौकरी मिल गई, पर फ्रांस चला गया और सन् 1756 तक पेरिस की गलियों का आवारा रहा। उसके कई स्त्रियों से अवैध सम्बन्ध रहे, पर भाादी किसी से न हो सकी। सन् 1749 में डिजॉन अकादमी द्वारा घोशित एक निबन्ध प्रतियोगिता में उसने प्रथम पुरस्कार जीता। इसके बाद से वह लेखक और दार्षनिक हो गया। उसने अपनी साहित्यिक प्रतिभा का भी आगे चलकर खूब परिचय दिया। रूसों का जीवन अन्य दार्षनिकों की अपेक्षा बहुत अधिक उत्तेजक और रोमांचकारी था। उसके प्रकाषनों से फ्रांस में बड़ी उथल–पुथल मची, जिसके कारण उसे फ्रांस छोड़कर भागना पड़ा। वह अपने नगर जेनेवा में जाकर रहना चाहता था, परन्तु क्रान्तिकारी विचारों के कारण उसे वहाँ भी रहने की अनुमति नहीं मिली। फलतः वह इटली और जर्मनी आदि देषों में घूमता रहा और दषक में सन् 1778 में उसकी मष्त्यु हो गई।

रचनाएँ

रूसों की प्रसिद्ध रचनाएँ इस प्रकार हैं

जीम क्पेबवनतेम व िाजे ंदक ैबपमदबम यह सन् 1749 में प्रकाषित पुस्तक है। इसमें रूसों ने यह बताया है कि विज्ञान और कला में मनुश्य की अवनति ने क्या योग दिया है ?

The Discourse on the Origin of Inequality यह पुस्तक सन् 1754 में प्रकाषित हुई। इसमें बताया है कि समाज में असमानता कैसे उत्पन्न हुई ?

(1) The Social Contract: यह ग्रन्थ सन् 1762 में प्रकाषित हुआ। इसमें राजदर्षन सम्बन्धी गम्भीर विचार हैं ।

(2) The Emile– यह उसका प्रसिद्ध ग्रन्थ है। यह सन् 1762 में प्रकाषित हुआ । इसमें षिक्षा सम्बन्धी क्रान्तिकारी विचार हैं, जो क्रान्ति की प्रेरणा देते थे ।

(3) An Introduction to Political Economy– यह पुस्तक सन् 1758 में छपी। इसमें राजनैतिक अर्थषास्त्र से सम्बन्धित विचार हैं।

रूसों का सामाजिक समझौता सिद्धान्त

रूसो हॉब्स तथा लॉक की तरह राज्य की उत्पत्ति के सामाजिक समझौता सिद्धान्त का प्रतिपादक है। उसने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक सोषल कॉन्ट्रक्ट में सामाजिक समझौता सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है।

मानव–स्वभाव हॉब्स ने मानव–स्वभाव को क्रूर, हिंसक, स्वार्थी और कपटी माना है, लेकिन रूसो का विचार है कि यदि मानव ऐसा होता तो मानव जाति दो पीढ़ियों से अधिक नहीं चल सकती थी। साथ ही हमें अपने प्रियजनों की मष्त्यु पर भोक की अपेक्षा हर्श होना चाहिए था। लॉक ने मानव–स्वभाव को सभी सद्गुणों से पूर्ण तथा नैतिक माना है। लेकिन रूसों का कथन है कि प्राकृ तिक अवस्था में व्यक्तियों का जीवन बुद्धि द्वारा चालित न होकर भावनाओं द्वारा चालित था और वे भाव प्रमुख रूप से दो थे – प्रथम, आत्म रक्षा तथा सुख की प्रवषत्ति और द्वितीय, दया। रूसों के अनुसार, आदिम मनुष्य निश्पाप, स्वाभाविक रूप से निर्दोश, नैतिकता के विचारों से रहित तथा सहज भावना से काम करने वाला बुद्धिहीन प्राणी था। इस प्रकार रूसो ने आदिम मनुश्य को पषुतुल्य, निश्पाप, निर्दोश तथा स्वाभाविक रूप से अच्छा माना है। रूसों ने उसे एक ष्आदर्ष बर्बरष कहा है। प्राकृतिक अवस्था रूसों के अनुसार, प्राकृतिक अवस्था वर्तमान मनुश्य की सभ्य सामाजिक अवस्था से कहीं अधिक थी। उसके अनुसार, आदिम मनुश्य एकांगी तथा जंगली जीवन व्यतीत करता था । उसकी आवष्यकताएँ सीमित थी। वह स्वतन्त्र, सन्तुश्ट और सुखी था। छोटे–बड़े का भेद नहीं था तथा सभी समान थे। पषुओं की भाँति उसका न तो कोई घर था और न उसे कोई चिन्ता थी । कोई कलह, द्वेश, मारपीट नहीं थी। कोई सभ्यता नहीं थी और न सभ्ययता की आवष्यकता थी। मनुश्य एकान्त में सुखी तथा बेपरवाह जिन्दगी जी रहा था।

आगे चलकर जनसंख्या बढ़ने लगी। जलवायु की भिन्नता के कारण भिन्न–भिन्न स्थानों में रहने वाले लोगों के रहन–सहन में अन्तर आने लगा । समानता नश्ट होने लगी। व्यक्ति में सम्पत्ति का भाव भी जाग गया। सम्पत्ति रूपी सर्प मानव समाज में पैदा हो गया और सुखी – षान्ति समाप्त हो गई। भाक्तिवान तथा दूरदर्षी लोगों ने अच्छी और अधिक भूमि ले ली। अन्य लोगों को खराब या कम भूमि मिली या किसी को मिली ही नहीं। इस प्रकार धनी और निर्धन का भेद उत्पन्न हो गया । अमीरों ने निर्धनों पर अत्याचार भषुरू कर दिए। लूट–खसोट, चोरी, हत्या, अपराध भारू हो गये। इन परेषानियों से मुक्ति पाने के लिये एक समझौते के द्वारा राज्य की स्थापना की।

रूसों इस प्राकृतिक अवस्था की ऐतिहासिकता का दावा नहीं करता, पर वह कहता है कि ऐसी अवस्था न कभी थी, न कभी होगी। वह यह भी कहता है कि वर्तमान अवस्था को समझने के लिये प्राकृतिक अवस्था की कल्पना करनी ही पड़ेगी ।

सामाजिक समझौता – रूसों के अनुसार, प्राकृतिक अवस्था भान्ति, सुन्दर, सुखमय और स्वतंत्र थी, परन्तु जनसंख्या वषद्धि से भाक्ति तथा प्राकृतिक साधनों का दुरूपयोग होनें लगा और तब अपनी सुरक्षा के लिए जनता ने एक समझौता किया। सभी व्यक्ति एक स्थान पर एकत्रित हुए और उनके द्वारा अपने समस्त अधिकारों का समर्पण किया गया, किन्तु यह समर्पण किसी व्यक्ति विषेश के लिए नहीं, वरन् मानव समाज के लिए किया गया। समझौते के परिणामस्वरूप सम्पूर्ण समाज की एक सामान्य इच्छा उत्पन्न होत है और सभी व्यक्ति उस सामान्य इच्छा के अधीन कार्य करते हैं। रूसों के भाब्दों में, श्प्रत्येक व्यक्ति अपने

व्यक्तित्व और अपनी माक्ति को सामान्य प्रयोग के लिए सामान्य इच्छा के सर्वोच्च निर्देषन के अधीन समर्पित कर देता है तथा एक समूह के रूप में हममें से प्रत्येक व्यक्ति समूह के अविभाज्य अंग के रूप में अपने व्यक्तित्व तथा अपनी पूर्ण भाक्ति को प्राप्त कर लेता है।श डॉ. पुखराज जैन के भाब्दों में, श्मनुश्य द्वारा प्रत्येक व्यक्ति के अपने पूर्ण व्यक्तित्व या भाक्तियों को एक ही राषि या ढेर में मिला दिया जाता है। इस प्रकार के पारस्परिक संयोग से उत्पन्न समूह का नाम राज्य या राजनीतिक समाज है।

सामाजिक अनुबन्ध के कारण – इन कारणों को इस प्रकार गिनाया जा सकता है–

(1) प्राकृतिक अवस्था एकांगी थी तथा व्यक्ति को पूर्णता की ओर ले जाने में असमर्थ थी । (2) प्राकृतिक अवस्था की स्वतन्त्रता अपूर्ण थी। जनसंख्या बढ़ने के कारण जन–जीवन जटिल होता जा रहा था । (4) व्यक्तिगत सम्पत्ति की सुरक्षा, न्याय, आदि के लिए समाज या राज्य की स्थापना जरूरी था । (5) रूसों मनुश्य के तीन प्राकृतिक अधिकार मानता है – स्वतन्त्रता, समानता तथा प्राभ त्व । इनका उपयोग प्राकृतिक अवस्था में भली–भाँति नहीं किया जा सकता। इनका अन्दर तो व्यक्ति समाज या राज्य में ही ले सकता है ।

इस प्रकार सामाजिक समझौता एक आवष्यकता ही नहीं, अपितु एक विवषता बन जाता है। यह मनुश्य की इच्छा का प्रतीक नहीं। मनुश्य को तो परिस्थितिवष ऐसा करना पड़ा।

सामाजिक समझौते की विषेशताएँ – रूसों द्वारा प्रतिपादित सामाजिक समझौते के सिद्धान्त की विषेशताएँ नीचे लिखी हैं

(1) रूसो के समझौते में व्यक्ति के दो रूप सामने आते हैं एक व्यक्तिगत तथा दूसरा समूहगत समझौते में प्रत्येक व्यक्ति अपने सभी अधिकारों का समर्पण कर देता है, परन्तु अधि कारों का यह समर्पण सम्पूर्ण समाज के प्रति होता है, किसी व्यक्ति विषेश के प्रति नहीं ।

(2) व्यक्ति को यह सन्तोश रहता है कि उसने अपने अधिकार समूह को समर्पित किये हैं और वह स्वयं उस समूह का अंग है। अतः समूह उनका प्रयोग उसी के लिये करेगा।

(3) इस समझौते से व्यक्ति की स्वतन्त्रता कर्तव्य अनुसार, सीमित नहीं होती, वरन् वह वास्तविक स्वतन्त्रता का उपभोग करता है। रूसों के भावना का पालन और जनहित की स्वतन्त्रता है। राज्य मनुश्य की स्वतन्त्रता के लिये ही कार्य करता है ।

(4) इस समझौते के आधार पर जो सामान्य इच्छा बनती है, वह सामान्य इच्छा सभी व्यक्तियों के लिए सर्वोच्च होती है। प्रत्येक व्यक्ति इस सामान्य इच्छा के अधीन होता है। यही सम्प्रभुता पूर्ण भाक्ति होती है। (5) समझौते के आधार पर निर्मित सामान्य इच्छा सदैव ही न्याययुक्त होती है तथा इसका लक्ष्य जनहित होता है। सामान्य इच्छा उसका हित निर्देषित करती है। व्यक्ति स्वयं अपने हित के विशय में इतना नहीं समझ पाता ।

(6) इस सामाजिक समझौते से व्यक्तियों की स्थिति में परिवर्तन होता है और उसमें एक नैतिकता तथा उत्तरदायित्व की भावना आ जाती है।

(7) रूसो केवल सामाजिक समझौते को ही स्वीकार करता है. राजनीतिक समझौते को नहीं। इस समझौते से किसी राज्य की नहीं, अपितु समाज की स्थापना होती है, जो अपनी व्यवस्था के लिए पष्थक् सरकार या भासनतन्त्र स्थापित कर सकता है।

इस प्रकार रूसो के सामाजिक समझौते के द्वारा एक लोकतन्त्रीय समाज की स्थापना होती है। जिसके अन्तर्गत सम्प्रभुता सम्पूर्ण समाज में निहित होती है। वह सामान्य इच्छा के आधार पर भासन करने की ओर हमें ले जाता है। रूसों ने स्वयं भी इसके विशय में कहा कि, जो कुछ समझौते से मनुश्य खोता है वह है प्राकृतिक स्वतन्त्रता और किसी भी वस्तु को पाने का असीमित अधिकार । जो कुछ पाता है, वह है – सामाजिक स्वतन्त्रता और अपनी वस्तुओं का स्वामित्व !

इकाई – 7 जीन मैक्स रूसो

रूसों के सामाजिक समझौता सिद्धान्त की आलोचना.

रूसों के सामाजिक समझौता सिद्धान्त की आलोचना निम्न रूपों में की जा सकती है– (1) अस्पश्ट तथा जटिल विचारधारा रूसो की विचारधारा सर्वाधिक अस्पश्ट तथा जटिल है तथा उसमें अनेक स्थानों पर विरोधाभाश पाया जाता है। रूसों स्वयं कहता है कि, जो सामाजिक अनुबन्ध को पूरा समझ ले वह मुझसे अधिक बुद्धिमान है। वह एक तरफ तो व्यक्ति स्वतन्त्रता का समर्थन करता है तो दूसरी ओर वह व्यक्ति को पूर्णतया सामान्य इच्छा की दासता में छोड़ देता है। रूसो की विचारधारा में जो असंगतियाँ पाई जाती हैं उनके कारण मार्ले कहता है कि, उसे यद्यपि एक महान विचारक कहा जाता है, किन्तु वह यह नहीं जानता था कि विचार किस प्रकार किया जाता है।(2) गानव स्वभाव तथा मानवीय इतिहास की धारणा गलत रू– रूसों की मानव–स्वभावतथा मानवीय इतिहास के विकास सम्बन्धी धारणा नितान्त तर्कविरूद्ध है । कुक के भाब्दोंमें, श्प्राकृ तिक अवस्था में विचरण करने वाले भद्र जंगली व्यक्ति का जो चित्र उसने अंकितकिया है, वह उसकी कल्पना की ही उपज है । वह मानव जाति में अतीत को आदर्ष बताकर मानव समाज को प्रकृति की ओर लौटने का आहवान करता है जबकि मानव जाति का इतिहास अवनति का नहीं वरन् प्रगति का इतिहास है । (3) राज्य तथा समाज में अन्तर न करना अनुचित – रूसों के समझौता सिद्धान्त की एक गम्भीर त्रुटि यह है कि उसने राज्य और समाज में कोई अन्तर नहीं किया है। उसकी दृश्टि में समाज के प्रति समर्पण ही राज्य के प्रति समर्पण है। इस त्रुटि के कारण रूसों का समझौता सिद्धानत व्यक्ति की स्वतंत्रता के हनन का एक साधन बन गया है। सामान्य इच्छा का सिद्धान्त रूसो की विचारधारा का सर्वाधिक महत्वपूर्ण तत्व है। सामान्य इच्छा का प्रतिपादन कर रूसो ने राजदर्षन में अपना विषिश्ट स्थान बना लिया। जोन्स के अनुसार, श्रूसो की सामान्य इच्छा की धारणा न केवल उसके सिद्धान्त की सबसे अधिक महत्वपूर्ण धारणा है वरन् उसकी सबसे अधिक मौलिक और सबसे अधिक रोचक धारणा भी है और ऐतिहासिक दृश्टि से राजनीतिक सिद्धान्त की सबसे महत्वपूर्ण देन है ।श रूसों के इस विचार की प्रषंसा तथा आलोचना दोनों की गई हैं।

सामान्य इच्छा – रूसो सामान्य इच्छा उसको मानता है जिससे व्यक्ति और समाज दोनों का कल्याण होता है।

रूसों का कथन है कि, मनुश्य की दो प्रकार की इच्छाएँ होती हैं '(1)

bPNk ¼Actual & will)

(2) आदर्ष इच्छा – (Real will)

(1) यर्थाथ इच्छा – यह भावात्मक होती है। इसमें अस्थिरता होती है तथा विवेक और विचार का अभाव होता है। इस इच्छा के वषीभूत वह कार्य होता है, जो बिना सोचे–समझे होता है। इस इच्छा से युक्त व्यक्ति यथार्थपूर्ण कार्यों में लिप्त रहता है। ऐसा व्यक्ति समाज का ध्यान नहीं करता है। डॉ० आर्षीवादम के अनुसार, श्वह व्यक्ति की समाज विरोधी इच्छा है। क्षणिक एवं तुच्छ इच्छा है। यह संकुचित तथा स्वविरोधी है।

(2) आदर्ष इच्छा – आदर्ष इच्छा बुद्धि और विचार का परिणाम होती है। इससे व्यक्ति और समाज दोनों का कल्याण होता है। सामान्य इच्छा राजनीतिक समाज के सदस्यों की सामूहिक इच्छाओं का प्रतिनिधित्व करती हैं। किसी विशय पर विवेकपूर्ण विचार–विमर्ष द्वारा जो मानसिक चौतन्य या जागरूकता होती है और जिससे व्यक्ति और समाज का समान रूप से कल्याण होता है, वह सामान्य इच्छा कहलाती है। डॉ. आर्षीवादम के अनुसार, श्यह जीवन के समस्त पहलुओं पर व्यापक रूप में दृश्टिपात करती है। यह विवेकपूर्ण इच्छा है। यह व्यक्ति तथा समाज के सामंजस्य के प्रकट होती है। '

सामान्य इच्छा मानव की आदर्ष इच्छाओं का योग मात्र है। दूसरे भाब्दों में कहा जा सकता है कि सामन्य इच्छा मानव इच्छा का वह श्रेश्ठ भाग है जो सम्पूर्ण समाज के लिए आवष्यक रूप से हितकर हो । किसी इच्छा को सामन्य इच्छा होने के लिए यह आवष्यक है कि वह सामान्य व्यक्तियों की इच्छा हो और उसका आधार सामान्य हित हो ।

परिभाशा – प्रो. ब्रोसांके के अनुसार, श्सामान्य हित में सामन्य हित की धारणा निहित रहती है। यह न्यायिक होती है। यह कभी भी अन्याय पर आधारित नहीं होती। यह नैतिक दृ ष्टि से सर्वोत्तम होती है ।

डॉ० आषीर्वादम् के अनुसार, श्सामान्य इच्छा की परिभाशा एक समाज के सदस्यों की आदर्ष इच्छाओं का योग अथवा इससे भी अधिक उत्तम भाब्दों में उनके एकीकरण के रूप में की जा सकती हैं।

ग्रीन के अनुसार, श्सामान्य उद्देष्यों की सामान्य चेतना का नाम ही सामन्य इच्छा है।श वेपर के अनुसार, श्सामान्य इच्छा सभी नागरिकों की वह इच्छा है जो अपने व्यक्तिगत हित नहीं वरन् सामान्य हित को लक्ष्य बनाती है, यह सबकी इच्छा, सबके हित के लिए नहीं है ।

जर्मिनोदांते के अनुसार, श्सामान्य इच्छा समुदाय की श्रेश्ठ भावना है।

स्पश्ट है कि रूसो की सामान्य इच्छा के दो अंग हैं

1. सामान्य व्यक्तियों की इच्छा। 2. सामान्य हित पर आधारित इच्छा।

रूसों सामान्य इच्छा के दो अंगों में द्वितीय को प्रथम से अधिक महत्वपूर्ण मानता है। रूसों के भाब्दों में, श्मतदाताओं की संख्या से कम तथा उस सामाजिक हित की भावना से अधिक इच्छा सामान्य बनती है, जिसके द्वारा वे एकता में बँधते हैं ।श

सामान्य इच्छा के निश्कर्श – सामान्य इच्छा के विचार से नीचे लिखे निश्कर्श निकलते हैं– रूसो राज्य को एक सावयव मानता है। (2) सावयव राज्य का एक नैतिक अस्तित्व होता

है, जिसकी अपनी इच्छाएँ भी होती है । (3) यही सामान्य इच्छा विधियों का अन्तिम स्रोत है । (4) सामान्य इच्छा के अधिकार क्षेत्र में राज्य का प्रत्येक व्यक्ति आ जाता है। (5) सामान्य इच्छा का स्वरूप जितना विराट होगा, उतनी ही वह न्यायषील होगा । (6) सामान्य इच्छा की प्रवष्त्ति सदैव लोक–कल्याण की दिषा में रहेगी ।

सामान्य इच्छा की विषेशताएँ –– सामान्य इच्छा की विषेशताएँ इस प्रकार हैं

(1) अखण्डता सामान्य इच्छा का पहला लक्षण यही है कि वह अखण्ड तथा एकतापूर्ण होती है। वह अनेकता में भी एकता बनाये रखती है । यह राश्ट्रीय चरित्र को स्थिर और एक बनाये रखती है। रूसों के भाब्दों में, ″सामान्य इच्छा राश्ट्रीय चरित्र में एकता उत्पन्न करती और उसे स्थिर रखती है ।श

(2) अदेयता – यह अदेय है । किन्ही व्यक्तियों को हस्तान्तरित नहीं की जा सकती। यह प्रतिनिधियों द्वारा भी व्यक्त नहीं की जा सकती है। किसी के द्वारा इसे व्यक्त करना इसकी हत्या करना है ।

(3) अविच्छेदयता – इसे प्रभुसत्ता से अलग नहीं किया जा सकता। प्रभुसत्ता भी सामान्य इच्छा में निहित रहती है। प्रभुसत्ता और सामान्य इच्छा का भारीर और प्राणों का सा सम्बन्ध है ।

(4) सर्वोच्च तथा निरंकुष – यह सर्वोच्च तथा निरंकुष होती है। यह किसी व्यक्ति या व्यक्ति समूह के अधिकारों से नियन्त्रित नहीं होती। कोई भी इसकी अवहेलना नहीं कर सकता। इसके समक्ष नतमस्तक होना ही पड़ता है।

(5) स्थायित्व –– यह एक स्थायी प्रवष्त्ति तथा मानव के विवके का परिणाम होती है। लार्ड के भाब्दों में, श्वह न तो सार्वजनिक आदेष की आँधियों में मिलती है और न राजनीतिज्ञों की बहकाने वाली बातों में।

(6) लोककल्याणकारी – यह लोककल्याणकारी होती हैं। यह व्यक्तियों की आदर्ष इच्छाओं का योग होती है। व्यक्तियों की आदर्ष इच्छा सदैव जनकल्याणकारी होती है। इसका लक्ष्य ही सम्पूर्ण इलाज होता है। रूसों के भाब्दों में, ″सामान्य इच्छा सदैव ठीक ही होती है, परन्तु वह निर्णय जो इसका पथ–प्रदर्षक होता है, सदैव समझदारीपूर्ण नहीं होता है।

(7) औचित्यपूर्ण इच्छा सामान्य इच्छा औचित्यपूर्ण होती है। इसमें विवके काम करता है जो उचित रास्ते का अनुसरण कराता रहता है। रूसों के शब्दों में, सामन्य इच्छा सदैव ही विवेकपूर्ण एवं न्यायसंगत होती है, क्योंकि जनता की वाणी सदैव ईश्वर की वाणी होती है

सामान्य इच्छा व सर्वसम्मति में अन्तर – अनेक बार सामान्य इच्छा व सबकी इच्छा को पर्यायवाची समझ लिया जाता है, परन्तु दोनों को एक समझना गलत है। सबकी इच्छा मनुश्यों की यथार्थ व आदर्ष दोनों इच्छाओं का सम्मिश्रण हो सकता है, जबकि सामान्य इच्छा में केवल आदर्ष इच्छाओं का ही सम्मिश्रण है। रूसो के भाब्दों में, श्समाज के समस्त सदस्यों की इच्छाओं का कुल योग सामान्य इच्छा कभी नहीं हो सकता, क्योंकि समस्त सदस्यों की

इच्छाओं से सदस्यों के व्यक्तिगत स्वार्थों का सम्मिश्रण होता है, जबकि सामान्य इच्छा का सम्बन्ध केवल सामान्य हितों से होता है ।

इकाई – 8 रूसो का सामाजिक समझौता सिद्धांत

सामान्य इच्छा की आलोचना

अस्पश्ट रूसों की इस सामान्य इच्छा की विचारधारा में पहली त्रुटि तो यही. है कि यह अस्पश्ट है। यह वास्तव में कुछ गतिषील व्यक्तियों के हाथों में खेल जाती है। एक विषेश समय पर सामान्य इच्छा का ज्ञान प्राप्त कर सकना बहुत अधिक कठिन ही नहीं वरन् लगभग असम्भव है। स्वयं रूसों इस सम्बन्ध में पूर्ण निष्चित नहीं है। इस सम्बन्ध में वह परस्पर विरोधी बातें कहता है।

इस सम्बन्ध में वैपर ने कहा है कि, श्जब रूसों हमें सामान्य इच्छा का पता ही नहीं दे सकते तो इस सिद्धान्त के प्रतिपादन का लाभ ही क्या हुआ ? रूसों ने हमें एक ऐसे अन्धकार में छोड़ दिया है, जहाँ हम सामान्य इच्छा के बारे में अच्छी तरह सोच भी नहीं सकते।

अव्यवहारिक – दूसरी त्रुटि यह है कि व्यवहारिक क्षेत्र में यह अन्तर स्थापित करना बड़ा कठिन है कि कौन सी सामान्य इच्छा है और कौन–सी बहुमत की इच्छा है। सच तो यह हैं कि कभी–कभी व्यक्ति की ही भावना प्रधान और यर्थाथ इच्छाओं के मध्य भेद करना कठिन हो जाता है।

व्यक्ति की स्वतंत्रता के लिए घातक तीसरी बात यह है कि सामान्य इच्छाओं द्वारा रूसों व्यक्ति की स्वन्त्रता को छीन लेता है। यह सबके ऊपर हो जाती है।

प्रतिनिध्यात्मक प्रजातंत्र में सम्भव नहीं–चौथी बात यह है कि रूसी इसे ऐसी बताता है कि जिसका किसी के द्वारा प्रतिनिधित्व नहीं किया जा सकता । प्रजातंत्र भासन वाले देषों में प्रतिनिधिपूर्ण भासन होता है, पर प्रतिनिधि सामान्य इच्छा का प्रतिनिधित्व नहीं कर सकेगा, यह कुछ विचित्र है।

आदर्ष तथा यथार्थ इच्छाओं के बीच अन्तर करना कठिन – रूसों ने मनुश्य की इच्छाओं को आदर्ष तथा यथार्थ दो भागों में बाँटा है। इन दोनों इच्छाओं के बीच अन्तर करना कठिन है क्योंकि मनुश्य में सदैव ही व्यक्तिगत स्वार्थ और लोकहित की प्रवषत्ति पायी जाती है, उन्हें एक–दूसरे से पूर्णतया प थक करना सम्भव नहीं होता है। इस सम्बन्ध में हॉब हाउस ने लिखा है कि, श्यथार्थ इच्छा तथा आदर्ष इच्छा का अन्तर व्यवहार में सही नहीं होता है ।

सामान्य हित की व्याख्या असम्भव रूसों की सामान्य इच्छा का विचार जिस सामान्य हित पर आधारित है, उसका निर्धारण करना बहुत कठिन है। किसी कार्य को करने से पूर्व ही यह कैसे कहा जा सकता है कि उस कार्य का परिणाम जनकल्याण ही होगा । इसीलिए मार्ले ने कहा है कि, रूसो ने कोरी बहस में अपना समयरू नश्ट कर दिया है।

सामान्य इच्छा का महत्व

रूसों की सामान्य इच्छा का सिद्धान्त बहुत महत्वपूर्ण है।

इसके महत्व को निम्नांकित रूपों में देखा जा सकता है.

रूसो एक समझौते के द्वारा जिस समाज की स्थापना की बात करता है, वह समाज लोकतन्त्रीय चरित्र का सिद्ध होता है। इस समाज में सम्प्रभुता भी होती है, क्योंकि इसके बिना व्यवस्था नहीं चल सकती, परन्तु यह सम्प्रभुता सामान्य इच्छा में निवास करती है। सामान्य इच्छा चूँकि लोक–कल्याण की भावना का प्रतिनिधित्व करती है, इसलिए सम्प्रभुता लोकप्रिय होती है। रूसों की सम्प्रभुता अनश्वर, अविभाज्य, अप्रतिनिधिमूलक और अमर्यादित और असीम बताता है, फिर भी भासक को यह परामर्ष देता है कि उसे प्रत्येक कार्य सामाजिक कल्याण की दृश्टि से करना चाहिए और विधियों को सबके ऊपर समान रूप से लागू करना चाहिए।

इकाई – 9 सम्प्रभुता संबंधित विचारक

व्यक्तिगत स्वतन्त्रता तथा विधियाँ

रूसों का कथन था चूँकि प्राकृतिक अवस्था के पष्चात् व्यक्ति राज्य को अपने समस्त अधिकार सौंप देता है और राज्य उसका ही एक विराट रूप हो जाता है। इस कारण राज्य के बन्धनों से व्यक्तिगत स्वतन्त्रता का हनन नहीं होता। राज्य तो व्यक्तिगत स्वतन्त्रता की और गारण्टी देता है, ताकि व्यक्ति उसका उपयोग कर सके। राज्य जो भी विधियाँ बनाता है, वे व्यक्ति की ही इच्छा का परिणाम होती है । अतः व्यक्ति यह नहीं मानता कि ये स्वतन्त्रता पर लगाये गये प्रतिबन्ध हैं। वह अपने राज्य के नागरिकों को राज्य की भाक्ति का मुकाबला करने या सीमित करने के लिए कोई अधिकार नहीं देता ।

विधियों को रूसो ने सामान्य इच्छा की आवाज माना है। उसका कहना है कि विधि की उत्पत्ति सामूहिक इच्छा और सहमति से होती है। उसमें सबका कल्याण निहित होता है। अतः विधि से व्यक्ति का विरोध हो ही नहीं सकता। वह विधियों को सामान्य इच्छा के निर्देषों के पालने का साधन मानता है ।

रूसों के अनुसार, स्वतन्त्रता को और सुलभ बनाने में विधियों सहयोग करती हैं। ये स्वतन्त्रता पूरक हैं, उसके मार्ग की अवरोधक नहीं। यही विचार आज भी स्वीकार किये जाते हैं।

राजनीतिक चिन्तन को रूसो की देन या महत्व और प्रभाव

राजनीतिक दर्षन को रूसो ने निम्नांकित महत्वपूर्ण देन दी है

1. सामान्य इच्छा का जनक – राजनीतिक दर्षन में सामान्य इच्छा के सिद्धान्त का आविश्कार रूसों ने ही किया है। उसनके बताया है कि राज्य की सम्प्रभुता इसी सामान्य इच्छा में निहित है ।

2. लोकप्रिय सम्प्रभुता

की धारणा – रूसो की सर्वाधिक महत्वपूर्ण देने लोकप्रिय सम्प्रभुता की धारणा है जो कि वर्तमान समय की प्रजातान्त्रिक व्यवस्था की मूल आधार है। उसने सर्वप्रथम इस बात पर बल दिया कि जनता ही समस्त राजनीतिक सत्ता की मूल स्रोत है, सम्प्रभुता जनता की सामान्य इच्छा में निहित है। उसने जनता को सम्प्रभुता को सुरक्षित रखने के लिए जनसभायें, लोकनिर्णय तथा आरम्भक आदि लोकतन्त्रीय संस्थाओं को अपनाने का सुझाव दिया है।

3. व्यक्ति और राज्य में स्वस्थ सम्बन्धों का प्रतिपादन – रूसो ने व्यक्ति और राज्य के पारस्परिक सम्बन्धों को श्रेश्ठ आधार पर प्रतिश्ठित किया है। रूसों ने राज्य और व्यक्ति के पारस्परिक सम्बन्धों को नैतिक स्वरूप प्रदान किया तथा व्यक्ति की राज्य के प्रति भक्ति का एक सुद ढ़ आधार स्थापित किया ।

4. राज्य और सरकार में अन्तर रूसो ने राज्य तथा सरकार का अन्तर स्पश्ट रूप में व्यक्त किया है। उसने विधियों तथा विधि के भासन की श्रेश्ठता प्रतिपादित की. जन कल्याणकारी विधियों के निर्माण को प्रोत्साहित किया तथा संवैधानिक विधियों के विकास में योग दिया।

5. राश्ट्रीयता की भावना का प्रतिपादन यद्यपि रूसो राश्ट्रीय राज्य की धारणा का समर्थक नहीं था, परन्तु उसने राज्य की एकता व सफलता की भावना का समर्थन कर राश्ट्रभक्ति का आदर्ष प्रस्तुत किया।

6. व्यक्तिवाद का प्रेरक – डॉ. वी. पी. वर्मा के अनुसार, श्राज्य, सामन्तवाद और चर्च का प्रतिरोध कर व्यक्तित्व के परम समर्थन का प्रस्ताव उपस्थित करना रूसों के व्यक्तिवादी होनें का प्रबल प्रमाण हैं ।श रूसो ने राजतंत्र व अभिजाततन्त्र का विरोध करके भी अपने व्यक्तिवाद का परिचय दिया है ।.

7. आदर्षवाद का सूचक – रूसो का राजनीतिक दर्षन आदर्षवाद का भी प्रेरक है। हींगल की आदर्षवादी विचारधारा जिसमें उसने राज्य को साध्य मानकर उसे उच्च स्थान दिया है, वह रूसो से ही प्रभावित है।

3. लोकतन्त्र का अग्रदूत

रूसो की विचारधारा मूल रूप में लोकतांत्रिक ही है । लोकतांत्रिक फ्रेंच क्रांति का प्रणेता रूसो को ही कहा जा सकता है । उसे निम्नांकित आधारों पर लोकतन्त्र का अग्रदूत कहा जाता है।

(1) लोकतंत्र लोकप्रिय सम्प्रभुता की धारणा पर आधारित है और लोकप्रिय सम्प्रभुता का सबसे प्रमुख प्रतिपादक रूसो है ।

(2) रूसो के द्वारा लोक – कल्याणकारी राज्य के सिद्धान्त का सर्वप्रथम प्रतिपादन किया गया है। रूसो राज्य को सामान्य इच्छा की अनुभूति कहता है और रूसो की इस सामान्य इच्छा का आधार लोक–कल्याण ही है। अपनी इस धारणा के आधार पर रूसों लोकतंत्र का ही पथ प्रषस्त करता है।

(3) रूसो विधि को जनता की आवाज मानता है। उनका विचार है कि विधि समस्त व्यक्तियों का ऐसा प्रस्ताव हैं जो किसी विशय पर सामान्य रूप से प्रभाव डालता है। यह दृश्टिकोण लोकतन्त्र का ही समर्थक है ।

रूस के विचारों के आधार पर ही भरे ने उसे ष्लोकतन्त्र का उच्चतम् पुजारीष कहा है। जी. डी. एच. कोल का यह कथन इस सम्बन्ध में महत्वपूर्ण है, श्रूसो के हाथों में सामान्य इच्छा का सिद्धान्त मौलिक रूप से लोकतन्त्रीय हो जाता है और इस बात का दावा करता है कि जनता सैद्धान्तिक रूप में नहीं वरन् वांस्तविक रूप में गाासन करेगी। रूसो ने ही राजनीतिक जगत में लोकतंत्र को एक सजीव सिद्धान्त के रूप में प्रतिश्ठित किया है।

अभ्यास

प्रश्न

1. रूसो की संक्षिप्त जीवनी लिखें।
2. रूसो का सामाजिक समझौता सिद्धान्त क्या है ?
3. रूसो द्वारा प्रतिपादित सामान्य इच्छा की विचारधारा की समीक्षा करें।
4. राजनीतिक चिन्तन को रूसो की देन या महत्व और प्रभाव की विवेचना करें।

इकाई – 10 जेरेमी बेन्थम का जीवन

(Jeans Jacques Rousseau) (1748 ई० से 1832 ई०)

19वीं सदी के पूर्वार्द्ध में उपयोगितावाद का जन्म तथा भीघ्र ही इसका प्रभावषाली हो जाना ब्रिटिष राजनीतिक दर्षन के इतिहास की एक अत्यन्त महत्वपूर्ण घटना है। यद्यपि उपयोगितावाद के किसी भी महान विचारक बेन्थम और जॉन स्टुअर्ट मिल की भी तुलना बेकन, हॉब्स, लॅक या हूम जैसे प्रथम श्रेणी के विचारकों से नहीं की जा सकती है, परन्तु उपर्युक्त विचारकों में से किसी ने भी अपने अनुयायी समूह को ऐसी निष्चित विचार प्रणाली प्रदन नहीं कीं, जैसी की बेन्थम ने। यह कार्य बेन्थम का ही था कि उसके आचारषास्त्र तथ नीतिषास्त्र के विशय में कुछ ऐसे सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया, जिसको उसके षिश्यों तथा अनुयायियों ने विकसित किया तथा जो उपयोगितावाद के नाम से विख्यात हुए।

यद्यपि हमने बेन्थम को उपयोगितावाद का प्रवर्तक कहकर पुकारा है, किन्तु आचारषास्त्र के सिद्धान्त के रूप में उपयोगितावाद का जन्म बहुत पहले ही हो चुका था। इस रूप में इसका सम्बन्ध प्राचीन यूनान की एपीक्यूरियन प्रणाली से माना जा सकता है क्योंकि एपीक्यूरिन विचारधरा के समर्थक मनुश्य को पूर्णतः सुखवादी मानते हैं। इसी प्रकार पूर्व में प्राचीन भारत के चारवाक विचारकों को इसका प्रवर्तक माना जा सकता है। 17वीं सदी के सामाजिक समझौता सिद्धान्त के प्रतिपादकों ने भी उपयोगितावादी परम्परा का थोड़ा–सा विकास किया। हॉब्स ने अपने सामाजिक समझौते में मनोवैज्ञानिक भौतिकवाद के आधार पर यह सिद्ध करने की चेश्टा की है कि मनुश्य पुषवत् आचरण करने वाला एक सुखवादी प्राणी है जिसमें नैतिक भावनाओं का अभाव पाया जाता है। लॉक उपयोगिता को ही राज्य का आधार मानता है और उपयोगिता के आधार पर ही राज्य की भाक्तियों को सीमित कर देता है। पष्चिमी दर्षन के सिरैनायक वर्ग (ब्लतंदपब ैबीववस) के विचारकों ने भी उपयोगिता का प्रचार किया था। 18वीं सदी में कम्बरलैण्ड भी इस सिद्धान्त का प्रतिपादन करता है और राज्य की उपयोगिता के सम्मुख उसके नैतिक अस्तित्व तथा विवेकपूर्ण चेतना, आदि सभी बातों को गौण मानता है ।

वर्तमान काल के बुद्धिवादी विचारकों के साथ–साथ सुखवादी दर्षन राजनीति में पुनः प्रवेष करने लगा। डेविड हम ने सर्वप्रथम उपयोगितावादी दर्षन का स्पश्ट प्रतिपादन किया। लेस्ली स्टीफेन के अनुसार, श्उपयोगितावाद का जैसा क्रमबद्ध रूप डेविड हूम ने प्रस्तुत किया है, उतना बीसवीं सदी के किसी भी लेखक ने नहीं किया उसके द्वारा प्रस्तावित सिद्धान्तों में जॉन स्टुअर्ट मिल तक कोई परिवर्तन नहीं हुआ द्य 18वीं सदी के उत्तरार्द्ध में अनेक विख्यात उपयोगितावाद विचारक हुए जिनमें प्रीस्टले, हचसन, पैले, हालवेक, हैल्यूटियस, बेन्थम, जेम्स, मिल, जॉन ऑस्टिन, ग्रोट, जे० एस० मिल तथा मोल्सवर्थ का नाम प्रमुख रूप से लिया जा सकता है। इन सब विचारकों में उपयोगितावादी दर्षन का स्पश्ट और व्यापक रूप में प्रतिपादन बेन्थम के द्वारा ही किया गया है। इस पुराने सिद्धान्त को भाास्त्रीय एवं व्यवस्थित रूप देने, राजनीति के क्षेत्र में इसको लागू करने की पद्धति का

विस्तृत प्रतिपादन करने तथा इसे लोकप्रिय एवं भाक्तिषाली विचारधारा बनाने का श्रेय बेन्थम को ही है। इसी कारण बेन्थम को उपयोगितावाद का प्रवर्तक कहा जाता है।

वास्तव में, बेन्थम और उपयोगितावाद परस्पर इतने चनिश्ठ रूप में संयुक्त हैं कि उपयोगितावाद को बेन्थम के नाम से बेन्थमवाद भी कहा जाता है।

जीवन परिचय

बेन्थम का जन्म 1748 ई0 में लन्दन के सम्पन्न वकील घराने में हुआ था। बेन्थम बचपन से ही असाधारण प्रतिभाषाली था और उसके भौषवावस्था में ही लैटिन, ग्रीक तथा फ्रेंच भाशाओं का अध्ययन आरम्भ कर दिया। जब वह केवल 15 वर्श का ही था, तथी उसने आक्सफोर्ड के क्वीन्स कॉलेज से स्नातक की उपाधि प्राप्त की। बेन्थम को अपनी विलक्षण प्रतिभा के कारण ही छात्र जीवन में अपने साथी मूर्ख तथा अध्यापक अयोग्य प्रतीत होते थे। स्नातक की उपाधि प्राप्त करने के बाद उसने लिंकन्स इन में कानून का अध्ययनकिया। 1772 ई0 में उसने वकालत करना आरम्भ किया, किन्तु बेन्थन ने यह महसूसन कियाकि वह वकालत के लिए नहीं बनाया गया है और वह वकालत छोड़कर न्यायषास्त्र तथाविधिषास्त्र के अध्ययन में लग गया और जीवनपर्यन्त इसमें लगा रहा।

1776 ई0 में उसकी प्रथम पुस्तक षासन पर कुछ विचार प्रकाषित हुई। इस पुस्तक ने उस समय के दिग्गज विधिषास्त्री ब्लेकस्टोन की आलोचना करके कानून के क्षेत्र में हलचल मचा दी। बेन्थम प्रतिदिन नियमित रूप से लिखने वालाअसाधरण व्यक्ति थ और ज्ञान–विज्ञान के सभी क्षेत्रों में उसकी निर्बाध गति थी, लेकिनउसका लेखन कार्य अत्य धिक अव्यवस्थित था। 1788 ई० में उसकी भेंट जेनेवावासी कुमारीधुमोन्त से हुई, जिसने उसकी रचनाओं का सभ्य जगत की फेच भाशा मेंअनुवाद किया। इसमें फ्रेंच भाशा–भाशी प्रदेषों में उसकी ख्याति बढ़ी। 1821 ई0 में उसे 26वर्शीय वोरिंग नामक भक्त नवयुवक का सहयोग मिला, जिसने उसके कुछ ग्रन्थों को 11खण्डों में प्रकाषित किया किन्तु उसके लेखों का एक बड़ा भग अब तक अप्रकाषित है। वद्वावस्था तक बेन्थम कितना अधिक सक्रिय था, इसका प्रमाण यह है कि अपने उग्र विचारकोंका प्रचार करने के लिए उसने 76 वर्श की आयु में ष्वेस्टमिन्सटर रिव्यू नामक पत्र निकाला और 79 व की अवस्था में उसने लन्दन विश्वविद्यालय के मूल यूनिवर्सिटी कॉलेजष को इस उद्देष्य से स्थापित किया कि यह ऑक्सफोर्ड और केम्ब्रिज केदूशित वातावरण से मुक्त रहे ।बेन्थम न केवल उच्चकोटि का सुधारक था, अपितु सहृदयता, भाव–– प्रवणता एवं विषाल दृश्टिकोण का कोश भी था। यही कारण था कि उसे अपने जीवनकाल में ही अत्यधिकराश्ट्रीय और अन्तर्राश्ट्रीय सम्मान प्राप्त हुआ। 1825 में जब वह फांस गया, तो वहां उसेएक विजेता जैसा सम्मान और स्वागत प्राप्त हुआ। लन्दन, पेरिस और अमरीका में उसकीपुस्तकों की 50 हजार से अधिक प्रतियां बिकी। वह अपने जीवन भर लार्ड मौलबोर्न, जेम्समिल, सर सेम्युल रोमिलो, रिकार्डो, लार्ड ब्रोघम और जोसेफ हूम जैसे मित्र अनुयायियों सेघिरा रहा । चिर कुसारे रहते हुए, आनन्दपूर्वक एक दीर्घ जीवन व्यतीत करने के बाद 1832ई० में इस महान् विचारक की मष्त्यु हो गयी। संयोगवष उसके विचारों से प्रेरित महानसुधार बिल इसी वर्श पारित हुआ । इनके अतिरिक्त बहुत अधिक

सामग्री अभी अप्रकाषित हो पड़ी है। बेन्थम की इन रचनाओं में प्रथम एवं तष्तीय रचना सर्वाधिक महत्वपूर्ण है ।

उपयोगितावाद

उपयोगितावाद 19वीं सदी में इंगलैण्ड के दार्षनिकों द्वारा प्रतिपादित राज्य कार्य से सम्बनिधत एक प्रभावषाली दर्षन है। उपयोगितवाद का आधारभूत विचार उपयोगिता है। उपयोगिता ही राज्य के कार्यों का आधार है। इस सिद्धान्त के अनुसार ष्अधिकतम व्यक्तियों का अधिकतम हितम (ळतमंजमेज ींचचपदमे व िजीम हतमंजमेज दनउइमत) राज्य की प्रगति तथा श्रेश्ठता की कसौटी है। इस विचारधारा के अनुसार सभी राजकीय और सामाजिक कार्यो का मापदण्ड उपयोगिता ही होना चाहिए। वस्तुतः उपयोगिता को ही मानवीय जीवन का आधार मानकर जिस राजनीतिक दर्षन का सृश्टि की गयी है, उसे ही हम उपयोगितावाद कहते हैं ।

उपयोगितावाद मानवीय आचरण की प्रकृति और प्रेरकों एवं नैतिक निर्णय के स्तर से सम्बन्धि त एक नैतिक सिद्धान्त है और बेन्थम तथा मिल, आदि उपयोगितावादियों द्वारा इस नैतिक सिद्धान्त के विचारों को राजनीतिक क्षेत्र में लागू करने का कार्य किया गया है। इस प्रकार उपयोगितावाद का अध्ययन नैतिक व राजनीतिक दो रूपों में किया जा सकता है। इस रूप में यह सिद्धान्त ष्इपीक्यूरसष के दर्षन से सम्बन्धित है, लेकिन वर्तमानसुखवाद, ग्रीक सुखवाद में इस रूप में भिज है कि जहां ग्रीक सुखवाद परोपकारी (Altruistic) है, वर्तमान सुखवाद अहंवादी (Egoistic) है। यह सिद्धान्त इस मूल मान्यता पर आधारितहै कि मनुश्य मूल रूप में इस इन्द्रिय प्रधान प्राणी है जो सदैव सुख की खोज करता और दुख से बचना चाहता है। प्रत्येक वह कार्य जो सुखकी अपेक्षा अधि क दुख की उत्पत्ति करता है गलत या बुरा है और प्रत्येक वह कार्य जिसकापरिणाम दुख की अपेक्षा सुख है, अच्छा या सही है। इस प्रकार सुख समस्त मानवीय प्रयत्नोंका सर्वोच्च लक्ष्य है।

प्रत्येक व्यक्ति के सुख के साथ अन्य व्यक्तियों के सुख का प्रष्न भी जुड़ा होता है और यहीं वह राज्य की उपयोगिता के कारण ही है। उपयोगितावादियों के अनुसार राज्य का अस्तित्व उसकी उपयोगिता के कारण ही है। बेन्थम के अनुसार हम राज्य की आज्ञा का पालन ही इसलिए करते हैं कि श्आज्ञा पालन के सम्भावित दोश अवज्ञा के दोशों से कम हैं ।ऐसी स्थिति में राज्य का यह स्वाभाविक कर्तव्य हो जाता है कि वह अधिकतम व्यक्तियों के अधिकतम सुख की व द्वि का प्रयत्न करें। राज्य के कार्यों और कानूनों की परख सुख के सिद्धान्तों के आधार पर ही की जा सकती है। राजनीतिक संस्थाओं, राजनीतिक रीतियों तथा जीवन के अन्य क्षेत्रों में केवल उपयोगिता ही मापदण्ड और इन संस्थाओं एवम् कार्यो का औचित्य है । यदि राज्य के कानून लोक कल्याण की क्षमता नहीं रखते तो उनमें परिवर्तन होना चाहिए।

1उपयोगितवाद भी व्यक्तिवाद की तरह समाज को व्यक्तियों का योग मात्र ही मानता है। अतएव जो कुछ व्यक्ति के लिए ठीक है, वही सम्पूर्ण समाज के लिए ठीक होगा। वह

सामाजिक कल्याण को व्यक्तियों के सुख का संग्रह मानता है। इस दृश्टि से उपयोगिता का आधार व्यक्तिवाद ही है।

बेन्थम का उपयोगितवाद

नैतिक की परम्परागत धारणाओं का खण्डन और सुखवाद के सिद्धान्त का प्रतिपादन – उपयोगितवाद बेन्थम की समूची विचारधारा तथा चिन्तन का मूलमन्त्र और आधारषिला है । बेन्थम ने तत्कालीन समय में प्रचलित नैतिकता की सभी धारणाओं का खण्डन किया और उपयोगिता को नैतिकता तथा मानवीय जीवन का आधार बनाया। बेन्थन के समय में नैतिकता के विशय में विभिन्न विचार प्रचलित थे । प्रायरू लोग ईश्वर की इच्छा को नैतिकता का आधर मानते थे और उनका कहना था कि धर्मषास्त्रों से ईश्वर की इच्छा का ज्ञान होता है। इसलिए उनका कहना था कि जो ईश्वर की इच्छा अर्थात् धर्मषास्त्रों के अनुकूल है, वह नैतिक है और जो कुछ उसके विपरीत है, वह अनैतिक और पापमूलक हैं। इसके अतिरिक्त नैतिकता के सम्बन्ध में प्राकृतिक विधि की धारणा प्रचलित थी और दार्षनिक मनुश्य के अन्तःकरण को नैतिकता का स्त्रोत मानते थे । बेन्थम इन सभी को अस्वीकार करते हुए कहता है कि श्ईश्वरीय इच्छा, प्राकृतिक विधि और अन्तःकरण ये सब कुछ वैयक्तिक या आत्मगत ॅ(नइरमबजपअम) कल्पनाएं मात्र हैं और मनुश्य को जो कुछ अच्छा लगता है, उसकी को ईश्वरीय इच्छा, प्राकृतिक विधि या अन्तरात्मा के अनुकूल कह देता है । ईश्वरीय इच्छा, प्राकृतिक विधि या अन्तरात्मा के सम्बन्ध में प्रामाणिक रूप से हमारे द्वारा कुछ भी नहीं का जा सकता है, इसलिए ये धारणाएं निरर्थक हैं।

नैतिकता की इन परम्परागत धारणाओं के स्थान पर बेन्थम सुखवाद में विश्वास करता है और यह मानता है कि सुख तथा दुख, दूसरे भाब्दों में प्रसन्नता और पीड़ा मनुश्य के दो सार्वभौम भासक है। स्वयं बेन्थम के भाब्दों में, "प्रकृति ने मानव को सुख–दुख नामक दो प्रभुत्वपूर्ण स्वामियों के भासन में रखा है। हमें क्या करना चाहिए या हम क्या करें, यह केवल वे ही निष्चित कर सकते हैं । एक मनुश्य अपने भाब्दों द्वारा उनके भाासन से बचने का दिखावा भले ही करे, किन्तु वास्तव में सदैव उनके अधीन ही रहेगा।

कार्यों का उद्देष्य की अपेक्षा परिणाम का महत्व – बेन्थम कार्यों का उद्देष्य की अपेक्षा परिणाम को महत्वपूर्ण मानता है। कोई काम किस उद्देष्य से किया जाता है, इसका कोई महत्व नहीं, महत्व की चीज तो उसका परिणाम है। उसके अनुसार जो वस्तु हमें सुख की अनुभूति देती है, वह अच्छी, ठीक और उपयोगी है और जिस वस्तु से हमें दुख की अनुभूति होती है, वह बुरी, गलत और उपयोगी है।

सुख–दुख का स्वरूप इस प्रकार उपयोगिता का सिद्धान्त सुख की प्राप्ति और दुख के निवारण का सिद्धान्त है। सुख और दुख का स्वरूप क्या है और इसका निर्धारण कैसे किय जाय, इसका बेन्थम ने वैधारिक ढंग से विषद विवेचन किया है। उसके मत में सादे या सरल सुख निम्नलिखित 15 प्रकार के हैं रू इन्द्रियों द्वारा प्राप्त होने वाला सुख, सम्पत्ति, दक्षता, मित्रता, उत्तम चरित्र अथवा कीर्ति, भाक्ति पवित्रता, परोपकार, असत्कामना, बुद्धि, स्मषति, कल्पना, आषा सत्संग और दुख, पीड़ा, गंवारपन या फूहड़पन, भात्रुता, बदनामी, उदारता, दोह स्मषति, कल्पना, प्रत्याषा, साहचर्य और अषोभनीय से उत्पन्न कश्ट सरल कश्ट हैं। अन्य सब प्रकार के और कश्टों के मिश्रण से उत्पन्न होते हैं !

सुख–दुख के स्त्रोत सुख औरदुख पूर्वोत्त आनन्दों

बेन्थन के अनुसार सब सुख और दुख बाहरी कारणों के प्रभाव

से उत्पन्न होते हैं, किन्तु सब व्यक्तियों को एक कार्य विषेश से समान मात्रा में सुख अथवा दुख नहीं होता, इसका कारण व्यक्तियों की संवेदनषील या अनुभव करने की भाक्ति में अन्तर है। बेन्थम के. अनुसार मनुश्य की संवेदनषील 32 चीजों से प्रभावित होती है जिनमें से कुछ मुख्य है – स्वास्थ्य, ज्ञान की मात्र, बौद्धिक क्षमता, मन की स्थिरता, नैतिक संवेदनषीलता, आर्थिक परिस्थितियां, लिंग, आयु पद और जलवायु आदि बेन्थम ने सुख–दुख के पांच स्त्रोत बतायें हैं, जो इस प्रकार हैंरू (1) प्राकृतिक– जब कोई सुख या दुख प्राकृतिकाटनाओं के कारण होता है तो प्राकृतिक सुख या दुख कहलाताहै। (2) राजनीतिक अथवा कानूनी – जब कोई सुख या दुख राजनीतिक अवस्था अथवाकानून के कारण मिलता है, तो यह राजीतिक सुख या दुख, कहलाता है। (3) नैतिक– जबकोई सुख या दुख नैतिक दृष्टि से अच्छा या बुरा काम करने पर होता है, तो उसे नैतिकसुख या दुख कहते हैं । (4) सामाजिक या लौकिक जब किसी कार्य को करने पर समाजहमें पुरस्कार या दण्ड देता है. तो हमारा सुख या दुख सामाजिक होता है। (5) धार्मिक – धार्मिक मान्यताओं के अनुसार या विरूद्ध काम करने पर जो दुख या सुख मिलता है, उसका स्तोत्र धर्म होता है।

विभिन्न सुखों में गुण का नहीं वरन् परिणाम का भेद – बेन्थन के उपयोगिवादी सिद्धान्त की एक महत्वपूर्ण बात यह है कि वह विभिन्न सुखों में केवल परिणाम या मात्रा ुनंदजपजल) का भेद मानता है, गुण ुनंसपजल) का नहीं। उसके अनुसार विभिन्न सुख एक–दूसरे से कम या अधिक हो सकते हैं, किन्तु गुण में भिन्न नहीं होते। यदि हम कहें कि काव्य का आनन्द भोजन के आनन्द से अच्छा है, तो इसका अर्थ केवल यह होगा कि वह भोजन के आनन्द से मात्रा में अधिक है। उपयोगिता के सिद्धान्त के

अनुसार यह कहना गलत होगा कि एक सुख दूसरे में श्रेश्ठ अथवा निम्न कोटि का होता है। यदि हमने सुखों के बीच गुणात्मक भेद मान लिया, तो फिर उपयोगिता अच्छाई का मापदण्ड नहीं रहेगी, फिर हमें अच्छाई का कोई अन्य मापदण्ड ढूंढना होगा। विभिन्न सुखों में केवल मात्रा का ही भेद होता है, इस सम्बन्ध में उसकी प्रसिद्ध उक्ति है कि शकि सुख की मात्रा समान होने पर पुश्पिन (एक प्रकार का बच्चों का खेल) भी उतना ही श्रेश्ठ है जितना काव्य पाठ ।

आनन्द मापक पद्धति – बेन्थम के विचार में सुख और दुख को मापा जा सकता है और इसके लिए उसने एक आनन्द मापक पद्धति प्रदान की है। उसके अनुसार इस सम्बन्ध में 6 बातों पर ध्यान दिया जाना चाहिए। तीव्रता अवधि निष्चिता निकटता या दूरी उत्पादकता अर्थात् एक सुख द्वारा अपने ही जैसा दूसरा सुख उत्पन्न करना और विषुद्धता ।

ये बातें तो व्यक्तिगत सुख और दुख को मापने के लिए आवष्यक हैं, किन्तु व्यक्ति समूह के सुख और दुख को मापने के लिए एक अन्य बात पर भी ध्यान देना जरूरी है वह है विस्तार अर्थात् मिलने वाले सुख या दुख का प्रभाव कितने व्यक्तियों पर पड़ने वाला है। व्यक्ति के लिए कौन–सा कार्य करना उपयोगी होगा, इसके लिए उसे उर्युक्त सात आधारों को अंक देकर अधिक अंक वाला कार्य अपनाना होगा सुखों और दुखों की गणना करके किसी निष्चित परिणाम पर पहुंचने के लिए बेन्थम ने एक प्रक्रिया दी है, जो उसी के भाब्दों में इस प्रकार है

समस्त सुखों के समस्त मूल्यां को एक ओर तथा समस्त दुखों के समस्त मूल्यों को दूसरी ओर एकत्रित कर लेना चाहिए। यदि एक को दूसरे में से घटाकर सुख भोश रह जाता है तो अमुक कार्य ठीक है, लेकिन यदि भोश दुख रहे तो यह समक्ष लेना चाहिए कि अमुक कार्य ठीक नहीं है।

विधि–निर्माण में उपयोगिता के सिद्धान्त का प्रयोग – बेन्थम उपयोगितावादी सिद्धान्त को केवल व्यक्तिगत आचार तक ही सीमित नहीं मानता था, वरन उसने से जीवन के सभी क्षेत्रों में लागू करने की बात कही हैं। विधि निर्माण में तो उसने इस सिद्धान्त को अपनाने पर विषेश बल दिया है। सामूहिक जीवन में क्या किया जाय, इसका निर्धारण अधिकतम व्यक्तियों के अधिकतम सुखष (ळतमेंजमेज ींचचपदमे व िजीम हतमंजमेज दनउइमत) के सिद्धान्त के आधार पर किया जाना चाहिए। उसके भाब्दों में, ”उपयोगिता के सिद्धान्त का आषय आनन्दों और कश्टों के तुलनात्मक अनुमान की गणना करना या हिसाब लगाना है। विधि–निर्माता का उद्देष्य जनता को आनन्द देना है। विधान निर्माण में उसका मार्गदर्षक सिद्धान्त सामान्य उपयोगिता अर्थात् अधिकतम हित होना चाहिए ।

बेन्थम उपयोगितवाद को एक सार्वभौम सिद्धान्त मानता है और उसका कथन है कि मानवीय आचरण की सभी व्याख्याएं प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप में उपयोगिता के सिद्धान्त पर ही आधारित हैं । बेन्थम के अनुसार, उपयोगिता का सिद्धान्त सुनिष्चित और वस्तुपरक है तथा उसे प्रयोग द्वारा सिद्ध किया जा सकता है । अतः यदि हम मानवीय सम्बन्धों के संचालन को एक सुनिष्चित विज्ञान का रूप देना चाहते हैं, तो हमें उपयोगिता के सिद्धान्त को अपनाना होगा और हमारे द्वारा ऐसा ही किया जाना चाहिए।

उपयोगितावाद में आधारभूत सिद्धान्त

राजनीतिक चिन्तन के इतिहास में बेन्थम का नाम उपयोगितवादी विचारधारा के साथ जुड़ा हुआ है। उपयोगितावाद के अतिरिक्त अन्य सभी राजनीतिक विचारधाराएं कम–अधिक रूप में मानव–जीवन के नैतिक या भावनात्मक पक्ष पर आधारित हैं और इसी कारण ये विचारधाराएं सैद्धान्तिक अधिक और व्यावहारिक कम हैं, किन्तु उपयोगितावाद एक ऐसी विचारधारा हे जो यथार्थवादी पक्ष पर आधारित है। बेन्थम के उपयोगितावाद के प्रमुख सिद्धान्तों का विष्लेशण निम्न प्रकार से किया जा सकता है ––

(1) उपयोगितावाद सुखवाद के सिद्धान्त पर आधारित है – सुखवाद के अनुसार मानव की यह नैसर्गिक प्रवषत्ति है कि वह सुख प्राप्त करना और पीड़ा से दूर रहना चाहता है, मनुश्य में अन्य भी अनेक प्रवषत्तियाँ पायी जाती हैं, किन्तु इन सबमें यही प्रवषत्ति सबसे अधिक प्रमुख है। इस प्रवषत्ति के अनुसार मानव निरन्तर प्रसन्नता प्राप्त करने और पीड़ा से पिण्ड छुड़ाने

में लगा रहता है। मानव के सभी कार्यों की अच्छाई–बुराई की कसौटी सुख ही है। काण्ट जैसे दार्षनिक तो असत्य भाशण को सदैव बुरा कहेंगे, किन्त उपयोगिता के आधार पर उसे अच्छा भी कह सकते हैं ।

(2) राज्य का कार्य अधिकतम व्यक्तियों के अधिकतम सुख की साधना– उपयोगितावाद प्रमुखतया ष्सावलौकिक सुखवाद की धारणा पर आधारित एक नैतिक सिद्धान्त है, जिसे बेन्थम ने ष्अधिकतम व्यक्तियों के अधिकतम हितष की धारणा के रूप में राजनीतिक सिद्धान्त का रूप प्रदान किया है। बेन्थम तथा अन्य उपयोगितावादियों के अनुसार राज्य एक कल्याणकारी संस्था है और राज्य के अस्तित्व की उपयोगिता तथा अधिक से अधिक व्यक्तियों की प्रसन्नता के आधार पर ही न्यायसंगत समझा जा सकता है। इसके अतिरिक्त राज्य का कोई नैतिक या दैवी उददेष्य भी है, इसकी वे खुले भाब्दों में आलोचना करते हैं और इसे भाब्दों के साथ खिलवाड़ करना कहते हैं। बेन्थम के अनुसार हम राज्य की आज्ञा का पालन भी उपयोगिता के आधार पर ही करते हैं। ऐसी स्थिति में राज्य को प्रत्येक कार्य करने के पूर्व यह लेख लेना चाहिए कि उस कार्य से कितने लोगों का हित होता है ।

(3) राज्य और समाज में अन्तर है– आदर्षवादियों के विपरीत उपयोगितावादियों के मतानुसार राज्य समाजं से भिन्न एक संस्था है। समाज का क्षेत्र राज्य की अपेक्षा कहीं अधिक व्यापक है। राज्य गौण है तथा समाज प्रधान । उपयोगितावादी यह भी मानते हैं कि राज्य व्यक्ति के जीवन में अनावष्यक हस्तक्षेप न करे। इस प्रकार उपयोगितावादी राज्य और समाज में अन्तर करते हुए राज्य कृकृकृ को समाज के अन्तर्गत स्थित एक संस्था मानते हैं।

(4) राज्य स्वयं अपना लक्ष्य नहीं वरन एक साधन मात्र – उपयोगितावाद राज्य के सम्बन्ध में किसी रहस्य अथवा अलौकिकता में विश्वास नहीं करता । उपयोगितावाद का तो स्पश्ट विचार है कि राज्य के अस्तित्व का एकमात्र औचित्य मानव हित के लिए उसकी उपयोगिता है। इस प्रकार राज्य व्यक्ति के लिए हैं, वह एक साधन मात्र है । साध्य तो व्यक्तित तथा सामूहिक कल्याण ही है।

(5) उपयोगितावाद एक यथार्थवादी दर्षन है – उपयोगितावाद रोमांटिक लेखकों के समान कल्पना, आदि में विश्वास नहीं करता है। वह तो 19वीं सदी का नितान्त यथार्थवादी आन्दोलन है । अपनी यर्थावादिता के कारण ही उपयोगितावादी सामाजिक समझौता सिद्धान्त तथा प्राकृतिक अधिकार सिद्धान्त को निरी मूर्खता कहकर उसका उपहास करते हैं सभी उपयोगितावादी जीवन की व्यवहारिक समस्याओं में संलग्न व्यवाहरिक व्यक्ति थे, इस सम्बन्ध से रूडोल्फ मैट् (त्नकवसि डिमज्र) ने ठीक ही कहा है कि श्उपयोगितावाद का उदय विद्यार्थियों के अध्ययन कक्षों तथा कक्षाओं में इतना नहीं हुआ, जितना कि जीवन की आवष्यकताओं तथा जीवन के लिए प्रतिदिन होने वाले संघर्षो के उतार–चढ़ाव में ।श यथार्थवादी होने के कारण ही उपयोगितावादी विचारकों के द्वारा आगमनात्मक पद्धति को अपनाया गया है।

(6) उपयोगितावाद सामाजिक सुधारों का समर्थक है – उपयोगितावाद एक राजनीतिक विचारधारा मात्र ही नहीं, वरन सामाजिक और आर्थिक व्यवस्था को सुधारने का एक प्रयास भी है। उपयोगितावाद वस्तुतः एक प्रगतिषील विचारधारा है। तत्कालीन इंगलैण्ड की न्याय,

दण्ड तथा कानून, आदि व्यवस्थाएं अत्यधिक भ्रश्ट हो गयी थीं। ऐसी स्थिति में बेन्थम जैसे उपयोगितावादी ने रूढ़िवादिता के परित्याग का उपदेष दिया और उन्हें समाज हित के आधार पर सामाजिक और आर्थिक सुधार का एक सुनिष्चित कार्यक्रम प्रस्तुत किया। बेन्थम, आदि दार्षनिकों के विचारों ने इंगलैण्ड के आर्थिक, राजनीतिक और सामाजिक सुधारों को बहुत अधिक प्रभावित किया। समाज सुधार की तीव्र लंगन उपयोगितावाद की अपनी विषेशता है।

(7) संवैधानिक मार्ग में विश्वास – उपयोगितावाद यद्यपि एक प्रगतिषील विचारधारा है और यह दर्षन आर्थिक और सामाजिक व्यवस्था में सुधार करना चाहता है, किन्तु उपयोगितावाद समाज सुधार के लिए किसी क्रान्ति का उपदेष नहीं देता । उदारवादी होने के कारण यह प्रजातंत्र में द ढ विश्वास रखता है और इसके समर्थकों का मत है कि जनमत को प्रभावित और व्यक्त करके ही समाज का निम्न वर्ग सरकार को अधिकतम व्यक्तियों के अधिकतमं हित के अनुसार कार्य करने के लिए बाध्य कर सकता है। भान्तिपूर्ण उपायों द्वारा वांछित परिवर्तन लाने के पक्ष में होने के कारण यह विचारधारा अंग्रेजी परम्परा के सर्वथा अनुरूप है। डॉ० वेपर के भाब्दो में, श्बेन्थम ने अंग्रेज जाति की परम्पराओं के अनुरूप इस बात का प्रतिपादन किया कि सुधार क्रान्ति की अपेक्षा सदैव ही वांछनीय है ।

(8) राज्य की अपेक्षा मासन का सिद्धान्त अधिक – उपयोगितावाद राज्य की अपेक्षा भासन का सिद्धान्त अधिक है। यह राज्य का विकास कैसे हुआ? राज्य का स्वरूप क्या है अथवा क्या होना चाहिए? आदि भाव सूक्ष्म प्रष्नों पर विचार नहीं करता। उपयोगितावाद अपना समस्त ध्यान व्यावहारिक भासन व्यवस्था और भासन के कर्तव्यों पर ही केन्द्रित करता है और इस सम्बन्ध में व्यापक मीमांसा प्रस्तुत करने के कारण इसे राज्य की अपेक्षा भासन का सिद्धान्त अधिक कहा जाता है। उपयोगितावाद के प्रतिपादक बेन्थग के द्वारा दण्ड, न्याय–व्यवस्था, जेल और भासन, आदि के सम्बन्ध में भी विचार व्यक्त किये गये हैं ।

(9) समयानुकूल परिवर्तित विचारधारा – उपयोगितावाद की एक विषेशता यह है कि इसमें किसी प्रकार की कठोरता नहीं है। वस्तुतः उपयोगितावादी दर्षन राजनीतिषास्त्र को ब्रिटिष विचारकों की देन है और इंगलैण्ड के संविधान की भांति ही इसका क्रमिक विकास हुआ है तथा इसमें समय–समय पर आवष्यकतानुसार अनेक परिवर्तन होते रहे हैं बेन्थम ने उपयोगितावाद को एक विषिश्ट रूप प्रदान किया है और बेन्थम के उपयोगितावाद की विषेशता यह है कि वह विभिन्न सुखों में केवल मात्रा का भेद मानता है, गुण का नहीं। ऑस्टिन ने उपयोगितावाद को कानूनी रूप प्रदान करने का कार्य किया और मिल ने विभिन्न सुखों में मात्रात्मक भेद के साथ–साथ गुणात्मक भेद को स्वीकार करते हुए इसे षनिम्न कोटि का भौतिकवादष कहलाने से बचाया। इस प्रकार उपयोगितावादी विचारधारा परिस्थितियों के अनुसार परिवर्तित होती रही है।

बेन्थम के अन्य विचार

उपयोगितावाद के संस्थापक के साथ–साथ बेन्थम एक विधि–सुधारक भी था। उसने राज्य के स्वरूप, राज्य की सुम्प्रभुता, विधि, न्याय–व्यवस्था, दण्ड काराग ह तथा संसद सम्बन्धी सुधारों, आदि विशयों पर अपने विचार व्यक्त किये हैं। बेन्थम के अन्य महत्वपूर्ण विचारों का अध्ययन निम्नलिखित भीर्शकों के अन्तर्गत किया जा सकता हैरू––

राज्य की उत्पत्ति के सम्बन्ध में संविदावादी धारणा का खण्डन– बेन्थम के पूर्व राज्य की उत्पत्ति के सम्बन्ध में सामाजिक समझौता सिद्धान्त को बहुत अधिक मान्यता प्राप्त थी। रूसो, आदि ने इसका प्रबल प्रतिपादन किया था और ब्लेकस्टोन ने कहा था कि मनुश्य एक आदिम सामाजिक समझौते के कारण राज्य के प्रति अपने दायित्वों और कर्तव्यों को पूरा करते हैं, लेकिन बेन्थम ने इस संविदा सिद्धान्त का उग्र विरोध किया। बेन्थम के मतानुसार ऐसा कोई समझौता कभी नहीं हुआ था और यदि कोई ऐसा समझौता हुआ भी हो तो वर्तमान पीढ़ी को उससे नहीं बांध सकता था। मनुश्यों द्वारा राज्य के आदेषों और कानूनों के पालन का कारण कोई पुराना समझौता नहीं वरन वर्तमान काल में राज्यों से प्राप्त होने वाला लाभ या उपयोगिता है। उसके भाब्दों में, "राज्य की आज्ञा का पालन मनुश्य इसलिए करते हैं कि ऐसा करना उनके लिए लाभदायक और उपयोगी है और आज्ञापालन के सम्भावित दोश, अवज्ञा के सम्भावित दोशों की अपेक्षा कम है।श अतः बेन्थम की दृश्टि में राज्य का आधार उपयोगिता से उत्पन्न होने वाली आज्ञा पालन की आदत है, सामाजिक अनुबन्ध नहीं ।

इकाई – 11 कानून तथा न्याय व्यवस्था
प्राकृतिक कानूनों और प्राकृतिक अधिकारों का खण्डन

अपने विचार–दर्षन के प्रतिपादन में बेन्थम आदर्षवादी की अपेक्षा यथार्थवादी था और इसी कारण उसके द्वारा न केवल संविदावादी सिद्धान्त वरन प्राकृतिक कानून और प्राकृतिक आधारों का भी खण्डन किया गया है। बेन्थम हॉब्स की भांति कानून को आज्ञा के रूप में ही देखता था और, क्योंकि आज्ञा कोई व्यक्ति समूह नहीं दे सकता है, प्रकृति जैसी अमूर्त वस्तुएं आज्ञा नहीं दे सकतीं, अतः प्राकृतिक कानून की कल्पना नितान्त अनुचित है। व्यवहार में मानवीय कानून का ही अस्तित्व सम्भव होता है।

बेन्थम प्राकृतिक अधिकारों की कल्पना को भी नितान्त घणा और उपेक्षा की दृश्टि से देखता था द्य बेन्थम के अनुसार केवल उन्हीं अधिकारों के अस्तित्व को स्वीकार किया जा सकता है जिन्हें राजकीय संरक्षण प्राप्त हो, क्योंकि इस संरक्षण के आधार पर ही अधिकारों का पालन कराया जा सकता है, क्योंकि प्राकृतिक अधिकारों को इस प्रकार का संरक्षण प्राप्त नहीं होता। इसलिए वह इसमें क्रांतिकारी विचारों की बकवास मात्र मानता है। एक स्थान वह वह उन्हें ष्आध्यात्मिक विभ्रम और प्रमाद का एक गड़बड़ घोटालाष कहता है। उसके अनुसार ऐसा अधिकार जिसे भंग करने पर किसी प्रकार का दण्ड मिलने का भय न हो, बिलकुल व्यर्थ है। नागरिक राज्य के विरूद्ध किसी अधिकार का दावा नहीं कर सकते, क्योकि राज्य से बड़ी कोई दूसरी भाक्ति नहीं है, जो राज्य को अधिकार मानने के लिए बाध्य कर सके 1

बेन्थम प्राकृतिक अधिकारों की धारणा का इस कारण भी विरोधी है कि सामान्यता यह ध रणा क्रान्ति को जन्म देती है और बेन्थम क्रान्ति की अपेक्षा स्थायित्व को श्रेयस्कर मानता है । उसका ष्कथन है कि ष्युद्ध तथा तूफान पढ़ने के लिए श्रेश्ठत्तम् हो सकते हैं, परन्तु सहन करने के लिए भान्ति और सुरक्षा ही श्रेश्ठतम् है ।

बेन्थम को ष्जनता की स्वतंत्रताष जैसे भाब्दों से कोई प्रेम नहीं था । उसका विचार था कि व्यक्ति सुरक्षा चाहते हैं, स्वतंत्रता नहीं। वह फ्रांस के क्रान्तिकारियों के ष्स्वतंत्रता, समानता और भ्रातृत्व के नारे को भ्रामक मानता था । उसका विचार था कि सुरक्षा, जो कि स्वतंत्रता से अधिक महत्वपूर्ण कानून के माध्यम से ही स्थापित की जा सकती है और कानून सम्प्रभु की आज्ञा तथा एक प्रतिबन्ध हाने के कारण स्वतंत्रता के विरूद्ध होते हैं । वेपर (लचमत)

के भाब्दों में, "उपयोगितावादियों की योजना में स्वतंत्रता को महत्व नहीं दिया जाता । उसका मापदण्ड केवल ष्प्रसन्नताष है और ष्स्वतंत्रताष इस मापदण्ड की दासी होनी चाहिए। राज्य का उद्देष्य अधिकतम प्रसन्नता है, अधिकतम स्वतंत्रता नहीं ।

शासन पद्धति

बेन्थम भासन के प्रकार के सम्बन्ध में विषेश चिन्तित नहीं है और उसका विचार है कि भाासन का प्रकार चाहे जैसा भी हो, उसका प्रमुख सिद्धान्त यह होना चाहिए कि वह अधिकतम जनता को सुख प्रदान कर सके । फिर भी इस सम्बन्ध में उसका सामान्य विचार यह है कि कुछ विषेश परिस्थितियों के अन्तर्गत भले ही राजतंत्र या कुलीनतंत्र अधिकतम व्यक्तियों के अधिकतम हित का साधन कर सके, किन्तु सामान्यता उपयोगिता के सिद्धान्त के अनुसार जनतंत्र ही श्रेठ सिद्ध होता है। इसका कारण यह है कि मनुश्य अपने स्वार्थ साधन की चेश्टा करता है। ऐसी स्थिति में एक का राज्य अर्थात राजतंत्र हो, तो राजा मात्र का हित–साधन होगा, कुलीनतंत्र हो तो थोड़े से लोगों या अधिक धनी वर्ग का ही हितसाधन होगा ओर प्रजातंत्र होने पर बहुसंख्यक या अधिक लोगों का हित साध न हो सकेगा। अतः जनतंत्र ही ष्अधिकतम लोगों के अधिकतम सुख का साधन बन सकता है। जनतंत्र के प्रति अपनी आस्था व्यक्त करते हुए एक स्थान पर वह लिखता है कि श्यह दुर्गुणी दुनिया गणतंत्रों से ढक दिये जाने पर ही ठीक हो सकती है।श डेविडसन के अनुसार उसका विश्वास गणतंत्र में है और उसका विचार है कि कार्यकुषलता, मितव्ययता और जनता की सर्वोच्चता के लक्ष्य को गणतंत्र में ही प्राप्त किया जा सकता है।

अपने इस दृश्टिकोण के आधार पर बेन्थम ब्रिटेन के तत्कालीन संविधान को नितान्त अपूर्ण मानता था और उसने इसके प्रति अपना तीव्र असन्तोश व्यक्त करते हुए सुधार के कुछ महत्वपूर्ण सुझाव दिये थें उसका कहना था कि वयस्क मताधिकार के आधार पर पार्लियामेण्ट का प्रतिवर्श चुनाव होना चाहिए और इस सम्बन्ध में उसका तर्क था कि इससे प्रतिनिधियों के स्वार्थ और आलस्य पर नियंत्रण रखा जा सकेगा, प्रतिनिधि जनता के निरन्तर सम्पर्क में रहेंगे ओर जनता प्रतिनिधियों के कार्यों की पूर्ण जांच कर सकेगी। उसका कहना था कि मतदान गुप्त रीति से होना चाहिए क्योंकि ऐसा होने पर ही मतदाताओं को धमकी तथा भ्रश्टता से बचाकर मतदान की भाद्धता के लक्ष्य को प्राप्त किया जा सकता है। बेन्थम प्रजातंत्र की पूर्णता के लिए उत्सुक था और इस दृश्टि से उसने प्रेम की स्वतंत्रता पर बल दिया था। वह लाई सभा का अन्त कर देना चाहता था, क्योंकि वह एक अप्रजातान्त्रिक सदन और धनिक वर्ग का गढ़ था। बेन्थम राजपद के भी विरूद्ध था और अपने समय के ब्रिटिष संविधान को ष्धनिक वर्ग द्वारा प्रभावितष कहा करता था !

कानून तथा न्याय व्यवस्था

बेन्थम के जीवन का एक प्रमुख लक्ष्य तत्कालीन कानून पद्धति में सुधार करना था। वह राजनीतिक दार्षनिक से भी अधिक महत्वपूर्ण रूप में कानून– सुरधारक था, जिसका उद्देष्य सैद्धान्तिक पद्धति तथा उपयोगिता के सिद्धान्त के आधार पर कानून के क्षेत्र में उन पुरानी धारणाओं और अन्धविश्वासों को दूर करना था, जो प्रगति के मार्ग में बाधक तथा जनसाधारण के कश्टों के लिए उत्तरदायी थें। उसके अनुसार तत्कालीन कानून और न्याय व्यवस्था में अनेक गम्भीर दोश थे जिन्हें दूर किया जाना आवष्यक है। उसकी दृश्टि में कानून के बड़े दोश अस्पश्टता, अनिष्चितता, दुर्बोधता, जटिलता, दकियानूसीपन और

अप्रचलित परिभाशिक भाब्दों का प्रयोग थे। आवष्यकता इस बात की थी कि कानून को सरल, सुबोध भाब्दों में अभिव्यक्त किया जाय तथा उसे संहिताबद्ध (ब्वकपलि) किया जाय, जिससे सामान्य जन कानूनों को समझकर उनका पालन कर सकें। उसने अन्तर्राश्ट्रीय कानून तथा यूरोप के देषों में सामान्य रूप से प्रचलित दीवानी, फौजदारी और संवैधानिक कानूनों की संहिताएं तैयार की थीं। उसने विधिषास्त्र (श्रनतपेचतनकमदबम) को राजनीति से प थक करने की आवष्यकता बतलाते हुए इस दिषा में स्वयं कार्य प्रारम्भ किया, जसे आगे चलकर उसके षिश्य जॉन ऑस्टिन ने पूरा किया।

इंगलैण्ड की तत्कालीन न्याय व्यवस्था में अनेक गम्भीर और भीशण दोश थे। सर सैम्युल रोमिली के भाब्दों में, श्न्याय–व्यवस्था ऐसी थी, जिसे किसी भी सभ्य समाज के लिए अपमानजनक कहा जा सकता था।श बेन्थम ने तत्कालीन न्याय–व्यवस्था की अत्यधिक कटु आलोचना की। उसके अनुसार न्याय व्यवस्था बहुत अधिक जटिल और अनिष्चित थी, न्याय प्राप्त करने में बहुत अधिक समय लगता था और इतना अधिक व्यय करना होता था जो सामान्य व्यक्ति की पहुंच के बाहर होता था। बेन्थम के भाब्दों में, श्इस देष में न्याय बेचा जाता है और बड़े महंगे दामों पर बेचा जाता है, जो व्यक्ति मूल्य नहीं चुका सकता, वह न्याय भी प्राप्त नहीं कर सकता है ।श वह जजों को व्यवसायिकों के तौर पर ष्जज एण्ड को (श्रनकहम – ब्व.) कहा करता था और उसका विचार था कि ये जज उन व्यक्तियों से निष्चित रूप से अधिक दुश्ट होते थे, जिन्हें भयंकरतम अपराधी कहकर उनके द्वारा मृत्युदण्ड दिया जाता था और उसका विचार था कि हमारे कानून जजों द्वारा जजों के लाभ के लिए ही बनाए जाते हैं। वकीलों के बारे में भी उसकी सम्पत्ति ऐसी ही थी। उसका कहना था कि ये ष्आलसी सत असत का भेद करने में असमर्थ, अदूरदर्षी, जिद्दी, सार्वजनिक उपयोगिता के सिद्धान्त की परवाह न करने वाले, स्वार्थी तथा अधिकारियों के इषारे पर नाचने वाले होते हैं !

उसने न्याय के क्षेत्र में कुछ सुधार भी सुझाए। उसने जजों की निरंकुषता पर रोक लगाने के लिए जूरी प्रथा का समर्थन किया। वह इस बात के पक्ष में था कि विवादों का निर्णय अनेक जजों के स्थान पर एक जज के द्वारा ही किया जाना चाहिए। एक जज द्वारा निर्णय देने पर ही जज में उत्तरदायित्व की भावना का संचार हो सकता है और न्याय के सम्मान की रक्षा की जा सकती है।

इस सम्बन्ध में महत्वपूर्ण बात यह है कि उसके द्वारा समर्थित सभी वैधानिक सुधार अब तक अपनाए जा चुके हैं। न्यायिक सुधार के इतिहास में उसका स्थान बहुत ऊँचा है। सर हेनरी मेन ने इस सम्बन्ध में लिखा है, श्मैं बेन्थम के समय से लेकर अब तक होने वाले ऐसे किसी वैध ज्ञानिक सुधार को नहीं जानता, जिसका स्रोत उसका प्रभाव न हो।श फ्रेडरिक पोलक ने भी लिखा है कि श्19वीं सदी में इंगलिष कानून में हुए प्रत्येक महत्वपूर्ण सुधार में बेन्थम के विचारों का प्रभाव अंकित है ।

दण्ड व्यवस्था और जेल सुधार

बेन्थम के समय की दण्ड व्यवस्था बड़ी अमानुशिक और कठोर थी। चोरी, जालसाजी, आदि छोटे–छोटे अपराधों के लिए भी प्राणदण्ड दिया जाता था । अतः बेन्थम ने इस दण्ड व्यवस्था की आलोचना करते हुए इसमें सुधार की आवष्यकता पर बल दिया। बेन्थम का विचार था कि दण्ड का उद्देष्य अपराध की रोकथाम होना चाहिए और इसलिए दण्ड की प्रकृति तथा

मात्रा अपराध की गुरुता के अनुपात में ही होनी चाहिए, उससे कम अथवा ज्यादा नहीं। अधिक दण्ड देने से लाभ के बदले हानि की आषंका ही अधिक रहती हैं। बेन्थम का एक विचार यह है कि नए अपराधी को पुराने अपराधी से कम दण्ड दिया जाना चाहिए, क्योंकि नए अपराधी के सुधार की अधिक आषा रहती है।

दण्ड निर्धारित करने में चार बातों का ध्यान अवष्य ही रखा जाना चाहिए रू (1) अपराध किस प्रकार का है छोटा या बड़ा । (2) वे परिस्थितियाँ, जिनमें अपराध किया गया, उदाहरणार्थ, भूख लड़का यदि एक रोटी चुरा ले, तो वह दया का पात्र है । (3) अपराधी का उद्देष्य, और (4) अपराध से किस प्रकार के व्यक्ति को हानि पहुंचती है। डेविडसन के अनुसार, श्बेन्थम का विचार है कि दण्ड देने में भावना और दुर्भावना से काम नहीं लिया जाना चाहिए।

दण्ड ऐसा हो कि वह अन्य अपराधियों के लिए चेतावनीस्वरूप हो और इस दृश्टि की कठोरता के स्थान पर दण्ड की निष्चितता होनी चाहिए। इसी उद्देष्य से दण्ड प्रकट और सार्वजनिक रूप से दिया जाना चाहिए।

बेन्थम के समय में जेल का प्रषासन भी नितान्त असन्तोशजनक था और जेल में कैदियों के साथ पषुवत् व्यवहार किया जाता था। बेन्थम ने इस बात पर बल दिया कि जेलें ऐसी होनी चाहिए कि यातनाग ह के स्थान पर सुधार हों के रूप में कार्य कर सकें। जेल में अपराधियों को लाभदायक काम या षिल्प सिखाया जाना चाहिए जिससे कि बाहर आकर वे अपनी रोटी कमा सकें ।अवकाष के समय में कैदियों को लिखने–पढ़ने तथा नैतिक और धार्मिक षिक्षा की सुविधा दी जानी चाहिए। उसका विश्वास था कि उचित षिक्षा और व्यवहार से प्रत्येक कैदी का जीवन सुधारा जा सकता है

बेन्थम के समय में हावर्ड फास्ट जेल की व्यवस्था सुधारने के लिए आन्दोलन कर रहा था। बेन्थम को इस आन्दोलन से बड़ी सहानुभूति थी। उसने एक आदर्ष जेल का नमूना भी तैयार किया था और इसका नाम उसने षेन आप्टिकनष (च्द–व्जपबंद) रखा था। इस जेल की इमारत चक्राकार होती है और उसके बीच जेल के गवर्नर के रहने का स्थान होता । चारों तरफ चन्दियों की कोठरियाँ होती और गवर्नर अपने भीषे के केबिन में बैठा–बैठा कैदियों की दिनचर्या देखता रहता और जिस बन्दी को सुधारने के लिए जैसे उपचार की आवष्यकता होती वैसी ही व्यवस्था करता । बेन्थम की इच्छा थी कि ऐसी पहली जेल का गवर्नर वही बने, परन्तु उसकी यह इच्छा पूरी न हो सकी। बेन्थम ने षिक्षा और धर्म के क्षेत्र में भी अनेक महत्वपूर्ण सुधारों की योनाएँ रखीं। सम्भवतः जीवन का कोई क्षेत्र ऐसा नहीं था, जो उसकी दृश्टि से अछूता रहा हो ।

बेन्थम षिक्षण सुधार के क्षेत्र में अग्रणी था । उसका विश्वास था कि मनुश्य जाति को षिक्षा से ही सुधारा जा सकता है। उसने षिक्षा को दी पद्धतियों का सुझाव दिया– प्रथम, निर्धन और नाथ बच्चों के लिए और द्वितीय, उच्च वर्ग के व्यक्तियों के लिए ।

प्रथम योजना यह थी कि अनाथ बालकों को अच्छी आदत सिखायी जाएं सिजसे उनका चरित्र निर्माण हो। फिर उन्हें कला कौषल या व्यवसाय सिखाया जाना चाहिए जिसमें वे

अपनी आजीविका कमा सकें। इसके बाद उन्हें बौद्धिक विकास के लिए षिक्षा दी जानी चाहिए। द्वितीय योजना के अन्तर्गत, उच्च वर्गीय षिक्षा में बौद्धिक विकास पर अधिक ध्यान दिया गया था। उस सनय तक षिक्षा में ग्रीक, लैटिन, आदि विशय ही मुख्यतया पढ़ाए जाते थे। बेन्थम ने इसके अतिरिक्त आधुनिक भाशाओं और विज्ञान, आदि उपयोगी विशयों के अध्ययन पर बल दिया। षिक्षा पद्धति के सम्बन्ध में उसका सामान्य मत था कि सरल विषय पहले पढ़ाए जाएं और कठिन बाद मे । वह ष्मानीटर पद्धति का समर्थक था, जिसके अनुसार ऊँची कक्षा और योग्यता वाले विद्यार्थी निम्न कक्षाओं केविद्यार्थियों को पढ़ाते हैं ।.

बेन्यम के अनुसार राज्य का यह कर्तव्य था कि वह निर्धन बच्चों की षिक्षा की व्यवस्था करे। इन बच्चों के जीवन को ऊँचा उठाने और इनका जीवन समाज के लिए उपयोगी तथा लाभदायक बनाने हेतु प्रत्येक सम्भव प्रयत्न किया जाना चाहिए। इस प्रकार के सुधार का प्रतिपादन करने में बेन्थम अपने समय से बहुत आगे था। उसके विचार तत्कालीन भाासक वर्ग द्वारा पसन्द नहीं किए गए। उन्हें इस बात का भय था कि निर्धन वर्ग इस प्रकार की षिक्षा प्राप्त कर कुलीन और धनी वर्ग की सत्ता का अन्त कर देगा। इसके अतिरिक्त, उसकी योजना को व्ययसाध्य ही समझा गया। उसकी योजना चाहे किन्हीं कारणों से अस्वीकार की गयी हो, इस बात से इन्कार नहीं किया जा सकता कि उसने भौक्षणिक सुधार की दिषा में अग्रणी होने का कार्य किया। उसके विचारों को बाद की सरकारों द्वारा स्वीकार किया गया और वर्तमान समय के प्रत्येक प्रगतिषील राज्य द्वारा उन्हें अपनाया जा रहा है ।

बेन्थम के द्वारा भाासन पद्धति, कानून तथा न्याय व्यवस्था दण्ड व्यवस्था और जेल सुधार तथा षिक्षा पद्धति के सम्बन्ध में जो विचार व्यक्त किए गए हैं, वे उसके सुधारवादी दृश्टिकोण का परिचय देते हैं । बेन्थम के द्वारा तत्कालीन जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में सुधार प्रस्तावित किए गए और उसके द्वारा प्रस्तावित सुधारों का व्यावहारिक स्थिति पर प्रभाव भी पड़ा। इस सम्बन्ध में, सी.एम. यंग ने लिखा है कि श्हमारे सार्वजनिक जीवन के किसी भी ऐसे कोने को ढूँढना कठिन हैं जहां बेन्थम की आत्मा आज भी कार्य न कर रही हो बेन्थम की व्यक्तिवादिता (राज्य या समाज सम्बन्धी धारणा) यद्यपि बेन्थम के दर्षन में न तो मानवीय प्रकृति की आधारभूत नैतिकता या अच्छाई पर बलषदिया गया है और न ही व्यक्ति की स्वतंत्रता पर, जिसे लॉक, माण्टेस्क्यू और मिल ने इतनाऊंचा स्थान प्रदान किया है, बेन्थम के चिन्तन में कोई विषेश महत्व नहीं है, लेकिन फिर भीबेन्थम उतना ही द व्यक्तिवादी है, जितना थॉमस पेन, लॉक या रूसो ।

वेन्सम को व्यक्तिवादी कहने का कारण उसकी राज्य या समाज सम्बन्धी धारणा है। उसके अनुसार समाज अपने घटकों के योग से अधिक कुछ नहीं है, अपने घटकों के जीवन तथा उद्देष्य के अतिरिक्त समाज का अपना कोई जीवन और उद्देष्य नहीं है, सम्पूर्ण इकाई अपने अलग–अलग भागों का योग मात्र है। राज्य या समाज सम्बन्धी उसकी यह धारणा व्यक्तिवादी विचारधारा के ही अनुकूल है। बेन्थम के लिए व्यक्ति ही सत्य है, समाज उसकी दृश्टि में एक काल्पनिक निकाय है, जिसकी उसके घटक नागरिकों के अस्तित्व के अतिरिक्त अपनी कोई निजी सत्ता नहीं है। राज्य का अस्तित्व व्यक्ति के लिए है, व्यक्ति का राज्य के लिए नहीं ।

व्यक्तिवादियों के समान ही बेन्थम राज्य को एक छोटी और अनिवार्य बुराई के रूप में स्वीकार करता है। राज्य को अनिवार्य बुराई के रूप में ग्रहण कर लेने के बाद वह इस बात का प्रतिपादन करता है कि राज्य के नियंत्रण की मात्रा जितनी कम हो, उतना ही श्रेश्ठ है । इस दृश्टि से उसका विचार है कि राज्य को जहां तक सम्भव हो, न्यूनतम विधियां बनानी चाहिए । विधियों की उपमा उसने औशधि से दी हैं। जिस प्रकार अधिक औशधियाँ व्यक्ति के स्वास्थ्य को नश्ट कर देती हैं, उसी प्रकार अधिक विधियाँ समाज के विकास को अवरूद्ध कर देती हैं। इसलिए विधियों की न्यूनता समाज और राज्य के स्वस्थ विकास के लिए नितान्त आवष्यक है।

बेन्थम के अनुसार राज्य का कर्तव्य है और इसी बात में उसकी उपयोगिता भी है कि वह उन्नति करने के लिए व्यक्ति को अधिक से अधिक स्वतंत्रता दे । व्यक्ति की स्वतंत्रता पर केवल वे ही प्रतिबन्ध लगाए जाने चाहिए जिनका लगाया जाना सामान्य हित में नितान्त आवष्यक हो ।

बेन्थम की स्वतंत्रता सम्बन्धी कल्पना निशेधात्मकं थी और वह प्रतिबन्धों के अभाव को ही स्वतंत्रता समझता था। बेन्थम के इन विचारों के परिणामस्वरूप इंगलैण्ड कुछ दिनों के लिए एक ऐसा पुलिस राज्य हो गया, जिसे बहुसंख्यक सामान्य प्रजा के हितों से कोई मतलब नहीं था । भाासन द्वारा अपनायी गयी इस ष्यद्भाव्यम् नीतिष के परिणामस्वरूप इंगलैण्ड अधिकाधिक सम्पन्न होता गया, किन्तु इसके साथ ही मजदूरों की दरिद्रता, दुःख और बेकारी का भी कोई पारावार न रहा। अन्त में, उपयोगितावादियों को सवयं अपनी नीति में परिवर्तन करके मजदूरों की दषा सुधारने के लिए आन्दोलन करना पड़ा, कानून बनाने पड़े और यह कहना पड़ा कि सामान्य जन के हितों की रक्षा के लिए राज्य के द्वारा सभी सम्भव प्रयत्न किए जाने चाहिए।

बेन्थम की देन और महत्व

बेन्थम की विचारधारा में उपर्युक्त दोशों के होते हुए भी राजनीतिक चिन्तन के इतिहास में उसे अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त है। उसके दर्षन में मौलिकता का भले ही अभाव हो इस बात से इन्कार नहीं किया जा सकता कि उसने अपनी यथार्थवादिता और क्रियात्मक सुधारवादिता के आध र पर व्यावहारिक राजनीति को एक नवीन दिषा प्रदान की। उसकी महत्वपूर्ण देन निम्नलिखित है

उपयोगितावाद का प्रतिपादन – बेन्थम की सर्वप्रथम देन एक दार्षनिक सम्प्रदाय के रूप में उपयोगितावाद की स्थापना और उसे वैज्ञानिक रूप प्रदान करना है यद्यपि बेन्थम के पूर्व डेविड हूम, प्रीस्टले, हचसन, पैले, हालबैक और हैलेविटियस जैसे विचारकों द्वारा प्रकट या अप्रकट रूप में उपयोगिता के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया जा चुका था, किन्तु इस पुराने सिद्धान्त को भास्त्रीय और व्यवस्थित रूप देने तथा इसे लोकप्रिय एवं भाक्तिषाली विचारधारा बनाने का श्रेय बेन्थम को ही प्राप्त है। मैक्सी के भब्दों में, श्उपयोगिता का विचार बहुत पुराना और सुपरिचित था । बेन्थम ने इसकी खोज नहीं कीकृक किन्तु उसने तथा उसके अनुयायियों ने इसे विज्ञान के उपकरणों से सुसज्जित किया और इसे उपयोगिता का विलक्षण वेग प्रदान किया ।

राज्य के कार्य और उद्देष्य के सम्बन्ध में यथार्थवादी धारणा – उसकी दूसरी देन राज्य के कार्य और उद्देष्य के समबन्ध में आदर्षवादी दृश्टिकोण से विचार किया जाता थ, किन्तु बेन्थन ने इस कल्पनात्मक राजनीतिक सिद्धान्त की जड़ को हिला दिया और राज्य के कार्यो मापदण्ड हेतु ष्अधिकतम व्यक्तियों के अधिकतम् सुखष का एक व्यावहारिक आधार प्रदान किया। मैक्सी को अस्वीकार करने वाले तथा उसकी खिल्ली उड़ाने वाले व्यक्ति भी उसके इस सिद्धान्त की अपेक्षा नहीं कर सकते हैं कि सरकार तथा उसके अधिकारों का औचित्य इसी बात से निष्चित होता है कि वह प्रजा को कितना निश्पक्ष और स्पश्ट सुख पहुंचा रही है और उसकी कितनी सेवा कर रही है।

कानून और न्याय व्यवस्था में सुधार – बेन्थम की सर्वाधिक महत्वपूर्ण देन कानून और न्याय व्यवस्था के क्षेत्र में है। इस क्षेत्र में उसने जितना कार्य किया, सम्भवतया उतना अन्य किसी व्यक्ति ने नहीं। उसके प्रयत्न से कानून में सरलता और स्पश्टता आयी और न्याय प्रषासन में बहुत सुधार हुआ। उसके द्वारा कानून के संहिताकरण पर बल दिए जाने के कारण 19वीं सदी में अनेक देषों में कानूनी संहिताएं बनीं और उसे प्रयत्नों से ही 1832 में पार्लियामेण्ट का प्रथम सुधार कानून पारित हुआ । ब्रिटिष संसद में सुधार के लिए आन्दोलन करने वाले सभी व्यक्ति उससे प्रेरणा प्राप्त करते रहे और प्रतियोगिता परीक्षा द्वारा सरकारी पदों पर नियुक्ति, निर्धन कानून तथा सार्वजनिक स्वास्थ्य और सफाई से सम्बन्धित अनेक सुधार कानूनों को उसी प्रेरणा का परिणाम कहा जा सकता है । वैधानिक तथा न्यायिक क्षेत्र में उसके इस पथ–प्रदर्षन के कारण वैधानिक तथा न्यायिक सुधार के इतिहास में उसका एक अत्यन्त उच्च स्थान सुरक्षित हो गया है।

लोकतंत्र को भाक्ति प्रदान करना – बेन्थम ने प्रेस की स्वतंत्रता, गुप्त मतदान, वयस्क, मताधिकार, आदि का समर्थन करते हुए जनतंत्र को बल प्रदान किया है। उसने लॉर्ड सभा एंव कृकृ वंषानुगत अधिकारों का विरोध किया है। बेन्थम ने इस सिद्धान्त पर बल दिया कि भाासन के द्वारा अपनी दिन–प्रतिदिन की नीति एंव आचरण को जनमत के सामने उचित सिद्ध किया जाना चाहिए। बेन्थम का यह दृढ़ मत था कि राज्य मुट्ठी भर लोगों की स्वार्थसिद्धि का साधन नहीं होना चाहिए, उसे सामान्य जनहित तथा सार्वजनिक कल्याण का साधन बनाया जाना चाहिए।

ब्रिटिष राजनीतिक जीवन में स्थिरता उत्पन्न करना – व्यावहारिक राजनीति की दृश्टि से बेन्थम की एक महत्वपूर्ण देन ब्रिटिष राजनीतिक जीवन में स्थिरता को बनाए रखना है। फ्रेंच राज्य क्रान्ति के बाद से समस्त यूरोप में क्रान्तियों की बाढ़ सी आयी हुई थी और ब्रिटिष कामन्स सभा में भी कोलाहलपूर्ण द भय रोज की बात हो गए थे। ग्लैडस्टन जैसे व्यक्ति भी यह कहरने लगे थे कि कोई भी महान उद्देष्य भावावेष के बिना पूरा नहीं हो सकता। ऐसी स्थिति में बेन्थम ने इस बात पर जोर दिया कि सुधार क्रान्तियों से अधिक वांछनीय है और इस प्रकार ब्रिटिष राजनीति को क्रान्ति से सुरक्षित रखा द्य बेन्थम द्वारा प्रस्तावित सुधार के कारण अंग्रेज यह समझ गए कि समी विवादपूर्ण प्रष्नों का समाधान भान्तिपूर्ण ढंग से किया जाना चाहिए और सिरों को तोड़ने की अपेक्षा उन्हें गिनने का ढंग ही उत्तम है।

बेन्थम की एक अत्यन्त

राजनीति के क्षेत्र में अनुसंधान और गवेशणा को महत्व महत्वपूर्ण देन राजनीति और राजनीतिषास्त्र के क्षेत्र में परीक्षा, अनुसंधान और गवेशणा की प्रवष्त्ति का प्रतिपादन करना और उन्हें महत्वपूर्ण बनाना है। बेन्थम के समय तक ऐसा माना जाता था कि श्रेश्ठ भाासन पुरानी परम्परा, सामान्य बुद्धि और अन्तःप्रेरणा के आधार पर किया जा सकता है, किन्तु बेनीम ने इस बात पर जोर दिया कि राजनीति में किस नवीन नीति या संस्था को अपनाने के पूर्व सभी सम्बद्ध क्षेत्रों से तथ्य एकत्रित किए जाने चाहिए और विवादपूर्ण प्रष्नों की जांच के लिए समितियाँ ओर आयोग स्थापित किए जाने चाहिए, इस प्रकार की समस्त जांच–पड़ताल के बाद ही कोई कदम उठाया जाना चाहिए। इस प्रकार बेन्थम ने राजनीतिक जीवन में प्रयोगवादी, अनुभववादी और आलोचनात्मक दृश्टिकोण का श्रीगणेष किया और बेन्थम के बांद इस दृश्टिकोण को सभी देषों और पक्षों द्वारा स्वीकार कर लिया गया है।

अपने समय के बौद्धिक वर्ग पर भी उसका गहरा प्रभाव पड़ा। जेम्स मिल, जॉन ऑस्टिन, जॉन स्टुअर्ट मिल, आदि उसकी ही देन हैं। न केवल इंगलैण्ड, वरन् रूस, पुर्तगाल, स्पेन, मैक्सिको और दक्षिण अमरीका के विभिन्न देष भी उसकी प्रतिभा से अत्यधिक प्रभावित थे और अन्तर्राश्ट्रीय क्षेत्र में उसको अत्यधिक सम्मान प्राप्त था । हैजलिट (भ्रंसपजज) का कथन बहुत कुछ सीमा तक सत्य है कि श्उसका नाम इंगलैण्ड में कम, यूरोप में अधिकतर तथा चिली के मैदान और मैक्सिको की खानों में अधिकतम ख्यातिपूर्ण है। उसने नवीन विश्व को संविधान तथा भविश्य के लिए कानून प्रदान किए हैं।श

बेन्थम की उपर्युक्त देनों को दृष्टि रखते हुए ही मिल ने लिखा है कि श्उसे मानव जाति के सर्वाधिक बुद्धिमान और महान षिक्षकों में स्थान दिया जाना चाहिए क्योंकि उसने मानव को भाश्वत मूल्य के विचार प्रदान किए हैं ।

अभ्यास प्रष्न

1. बेन्थम द्वारा प्रतिपादित उपयोगितावादी सिद्धान्त की आलोचनात्मक व्याख्या कीजिए। 2. श्प्रकृति ने मनुश्य जाति को दो प्रभुत्तवपूर्ण स्वामियों सुख और दुख के अधीन कर रखा है।श

बेन्थम के इस कथन की व्याख्या और विवेचना कीजिए ।

3. कानून, न्याय व्यवस्था और जेल सुधार, आदि विशयों के सम्बन्ध में बेन्थम की विचारधारा

स्पश्ट कीजिए।

इकाई – 12

जे०एस० मिल का सामान्य परिचय

जे०एस० मिल जॉन मिल का पुत्र था। उसका जन्म 20 मई, 1806 ई० को लन्दन में हुआ थ। वह बचपन से ही बड़ी तेज बुद्धि का था। 8 वर्श की आयु में उसने लेटिन भाशा सीख ली थी व 12 वर्श की कम आयु में उसने दर्षन भास्त्र का अध्ययन आरम्भ कर दिया था। अध्ययन पूरा करने पर वह ईस्ट इण्डिया कम्पनी की सेवा में चला गया। यहाँ भी उसने अपना लेखन कार्य जारी रखा। सरकारी पद पर हरने के कारण उसे भासन पद्धतियों का भी अनुभव था। जॉन स्टुअर्ट मिल का पिता बेन्थम के उपयोगितावाद से बड़ा प्रभावित था। उस पर इस सिलसिले में अपने पिता व बेन्थम का प्रभाव पड़ा। बेन्थम ने मिल को अपना श्आध्यात्मिक पोताश ॑चपतपजनंस ळतंदकेवद) कहकर पुकारा । 1866 से 1868 तक उसने रेडीकल प्रतिनिधि के रूप में बेस्टामिटर का हाउस ऑफ कॉमन्स में प्रतिनिधि त्व किया। संसद में मुख्यतः तीन विशयों पर बोला– (1) श्रमिकों के हितों से सम्बन्धित बातों पर, (2) स्त्री मताधिकार तथा (3) आयलैण्ड में भूमि सुधारों पर। 1873 में इस महान विचारक की मृत्यु हो गई ।

रचनायें – उसकी प्रमुख रचनायें है–

(1) ऑन लिबर्टी, (2) द सिस्टम ऑफ लॉजिक, (3) कन्सीडरेषन ऑन रिप्रजेन्टेटिव गवर्नमेण्ट, (4) प्रसिपल्स ऑफ पोलिटिकल इकॉनोमी, (5) यूटिलिटेरियनिज्म (6) सन अनसेटिल्ड क्वष्चन्स इन पॉलिटिकल इकोनोमी, (7) थॉट्स ऑन पार्लियामेंण्टरी रिफार्म्स, (8) एक्जामिनेषन ऑफ सर विलियम हैमिलटन्स फिलॉसफी, (9) सब्जेक्षन ऑफ वूमेन (10) ऑटोबायग्राफी, (11) श्री ऐसेज ऑन रिलीजन, (12) लेटर्स द्य

मिल द्वारा बेन्थम के उपयोगितावाद में संषोधन – जॉन स्टुअर्ट मिल ने बेन्थम के उपयोगितावाद के सिद्धान्त को एक दर्षन एक विश्वास और एक धर्म के रूप में ग्रहण किया तथा इसके प्रचार को अपने जीवन का लक्ष्य बनाया। किन्तु मिल का बौद्धिक क्षिति5 और भावात्मक आधार बेन्थम से कहीं अधिक व्यापक था और उसमें मनवीयता के तत्व की प्रधानता थी ।

मिल ने अपनी आत्मकथा में लिखा है कि अपने जीवन में भावना की महत्ता स्वीकार करने के पष्चात् उसने एक भिन्न जीवन–दर्षन बनाया। उसने लिखा है, श मैं इस विश्वास से कभी नही डिगा कि व्यवहार में सभी नियमों की कसौटी और जीवन का लक्ष्य सुख है। लेकिन अब मैं सोचने लगा कि इस लक्ष्य की प्राप्ति तभी हो सकती है जब सुख का सीधा लक्ष्य न बनाया जाये । वे ही मनुश्य सुखी हैं जो अपने सुख के स्थान पर किसी अन्य विशय पर अपने विचार को केन्द्रित करते हैं, चाहे वह दूसरों का सुख हो, मनुश्य जाति का सुधार हो या कोई कला होकृकृकृकृकृकृकृदूसरा महत्वपूर्ण परिवर्तन, जो इस बात मे मेरे विचारों में हुआ, वह था मनुश्य की आन्तरिक संस्कति को मानव–कल्याण के लिए उचित स्थान देना । मैंने बाह्य वातावरण के संगठन पर ही सारा ध्यान केन्द्रित करना बन्द कर दिया ।

जे० एस० मिल द्वारा बेन्थम के उपयोगितावाद में निम्नलिखित संषोधन प्रस्तुत किए गए––

1. मानव जीवन का लक्ष्य अन्य व्यक्तियों का सुख मिल के इन विचारों ने पूरे उपयोगितावाद

में ही परिवर्तन कर दिया। बैन्थम के उपयोगितावाद के अनुसार मनुश्य अपना सुख चाहता

है, वह स्वकेन्द्रित है। वह दूसरे सुख और दुःख को नहीं समझ सकता। इसके स्थान पर मिल दूसरे के सुख को अपने जीवन का लक्ष्य बनाता है। यह दृष्टिकोण उपयोगितावाद के सिद्धान्त के विरूद्ध है।

इसके अतिरिक्त मिल के समय में उपयोगितावाद की तीव्र आलोचना की जा रही थी तथा यह कहा जा रहा था कि श्यह ऐन्द्रिक वासनाओं पर अधिक बल देता है और मानव जीवन को दूशित करने वाला है। मिल ने इन आरोपों का खण्डन करने के लिए उपयोगितावादी विचारधारा में कुछ ऐसे नैतिक तथा सुखकारी तत्वों का समावेष किया जिसके मूल दर्षन में ही आधारभूत परिवर्तन हो गया। इस प्रकार उपयोगितावाद के सम्बन्ध मे मिल की स्थिति एक वैचारिक द्वन्द्व की है। इस सम्बन्ध में मैंक्सी ने लिखा है कि, श मिल में हम संघर्श देखते हैं। वह संघर्श है उसकी बौद्धिक सामग्री जो कि उसने अपने उपयोगितावादी गुरुजनों से विरासत में मिली थी, जिनके लिए उसके ह्रदय मे प्रम और श्रद्धा थी और उस परिणाम के बीच जिस पर कि वह अपने खुले मस्तिश्क तथा संवेदनात्मक पर्यवेक्षण के कारण पहुँचा था

मिल ने लिख श्मैं उपयोगिता को समस्त आध्यात्मिक प्रष्नों का अन्तिम लक्ष्य मानता हूँ । परन्तु यह उपयोगिता व्यापक अर्थ मे होनी चाहिए तथा उसका आधार प्रगतिषील मनुश्य के स्थाई हित में होने चाहिए।

2. सुखों में गुणात्मक भेद भी स्वीकार किया— मिल ने बेन्थम के विपरीत विभिन्न सुखों गुणात्मक भेद स्वीकार किया। उसने अनुभव किया कि विभिन्न सुखों के मूल्यांकन में गुणात्मक अन्तर भी किया जाना चाहिए। इस सम्बन्ध में उसने लिखा है कि श्इस बात को मानना कि उपयोगितावादी सिद्धान्त के अनुरूप ही है कि कुछ प्रकार के सुख अन्य प्रकार के सुखों से अधिक वांछनीय और महत्वपूर्ण हैं। इसलिए जहाँ सुख के मूल्यांकन को केवल मात्रा पर आधारित करना एक अजीब बात होगी। श्इस प्रकार उसने सुख के गुण पर अधिक जोर दिया। उसका मतलब यह हैं कि सुख उच्चतर व निम्नतर दो प्रकार होते हैं। उसके अनुसार श्प्रत्येक व्यक्ति को उच्चतम सुख ही प्राप्त करना चाहिए और निम्नतर सुख से बचना चाहिए।

श्एक सन्तुश्ट सुअर की अपेक्षा असन्तुश्ट मानव श्रेश्ठ है। एक सन्तुश्ट मूर्ख की अपेक्षा असन्तुश्ट सुकरात होना श्रेश्ठ है और यदि मूर्ख और सुअर दूसरा मत रखते है तो इसलिये कि केवल वे अपने पक्ष को जानते हैं। जबकि दूसरा पक्ष (मानव और सुकरात) दोनों पक्षों में। दोनों प्रकार के सुखों को जानता है।

इस प्रकार मिल ने विभिन्न सुखों में गुणात्मक भेंट स्वीकार करते हुए उपयोगितावाद को अधि कि मानवीय बना दिया ।

3. सुख के आन्तरिक स्त्रोत को स्वीकार करना— बेन्थम ने सुख व दुःख के केवल बाहरी स्त्रोत बताये थे । वे थे प्राकृतिक, राजनीतिक, धार्मिक व नैतिक । मिल ने कर्तव्य भावना को भी सुख का स्त्रोत माना। उसका कहना था कि जब हम किसी अनुचित कार्य को करते हैं तो हमारी भावनाओं को ठोस पहुँचती है। इसी तरह जब हम कोई अच्छा कार्य करते हैं

तो हमें आन्तरिक सुख होता है । इस तरह से मिल ने भावनाओं को भी सुख व दुःख का स्त्रोत माना और इन्हीं के आधार पर व्यक्ति और समाज का सम्बन्ध स्थापित किया ।

इस प्रकार मिल सुख दुःख के आन्तरिक स्त्रोत की बात कहकर उपयोगितावादी सिद्धान्त के आधार का ही अन्त कर देता है ।

4. समाज का आध्यात्मिक उद्देष्य– मिल के दर्षन की एक खास विषेशता यह थी कि उसने नैतिकता को सामाजिक माना। उसका विचार था कि समाज का एक आध्यात्मिक उद्देष्य होता है। वह है समूह लोगों का सुख मिल कहता है कि व्यक्ति को केवल अपने सुख को प्राप्त करने के लिए ही नही बल्कि समाज के सुख को प्राप्त करने के लिए व्यय करना चाहिए। वह व्यक्ति को अकेला नहीं मानता बल्कि उसे समाज के अंग के रूप में देखता है। उसका कहना है कि सभी के लाभ में कार्य करने में ही मनुश्य अपनी प्रकृति का प्रतिनिधित्व करता है। वह कहता है कि क्योंकि ष्अष का सुख एक अच्छाई है, और ष्सष इत्यादि का इसी प्रकार से इन सभी अच्छाई का योग भी एक अच्छाई है।

5. अधिकत्तम व्यक्तियों के अधिकतम हितष का व्यक्तिगत नैतिकता के सिद्धान्त य में प्रतिपादन – बेन्थम ष अधिकतम व्यक्तियें के अधिकतम हित को एक राजनीति सिद्धान्त समझता था तथा व्यवस्थापन, प्रषासन, कानून निर्माण तथा सामाजिक नीतियाँ निष्चित करने में इस सिद्धान्त के प्रयोग का पक्षधर था किन्तु मिल स्थिति इस सम्बन्ध में दूसरी थी । उपयोगिता का सिद्धान्त उसके हाथों व्यवस्थापक के लिए निर्देषित सिद्धान्त बनने की अपेक्षा व्यक्तिगत नैतिकता कासिद्धान्त बन गया।

6. स्वतंत्रता साध्य है, साधन नहीं – बेन्थम ने स्वतंत्रता तथा उपयोगिता में उपयोगिता को अधिक महत्व प्रदान किया है। वह स्वतंत्रता को उपयोगिता के अधीन एक साधन मात्र मानता है. साध्य नहीं किन्तु मिल के मतानुसार स्वतंत्रता स्वयं एक साध्य है तथा निष्चित रूप से उपयोगिता की तुलना में अधिक मूल्यवान है। मिल का मत है कि व्यक्तियों के व्यक्तिगत का विकास स्वतंत्रता के बिना सम्भव नहीं हो सकता है।

7. इतिहास तथा परम्पराओं का महत्व – बेन्थम के मतानुसार उपयोगिता का सिद्धान्त समस्त विश्व पर समान रूप से लागू होता है लेकिन मिल का विचार है कि अलग–अलग क्षेत्रों का अपना इतिहास तथा परम्परायें होती हैं, जिनका महत्व उनके लिए किसी भी अन्य बात से कम नहीं होता। वे इतिहास और परम्परायें प्रत्येक समाज के अन्तर्गत कुछ विषेश चारित्रिक विषेशताओं को जन्म देती हैं, इसीलिए कोई भी राजनीतिक अथवा सामाजिक अवस्था ऐसी नहीं हो सकती जो सब जातियों के लिए समान रूप से अनुकूल हो सके। अतः हमें किसी सार्वभौमिक धारणा या व्यवस्था का प्रतिपादन करने के बजाय इतिहास त परम्पराओं की भिन्नता तथा उनके महत्व को दृश्टि में रखना चाहिए।

इस प्रकार स्पश्ट है कि मिल ने मानव जीवन के सम्मुख एक आदर्षवाही लक्ष्य रखकर विभिन्न सुखों में मात्रात्मक भेद के साथ गुणात्मक भेद स्वीकार कर तथा बाहरी तत्वों के साथ मानवीय तत्वों को भी सुख और दुख का स्त्रोत मानकर उपयोगितावाद को अधिक

मानवीय बना दिया है। बेन्थम का उपयोगितावाद मात्र एक सुखवादी और भौतिकवादी विचारधारा है, मिल ने इस भौतिकवादी धारणा में नैतिक तत्वों का समोष किया है। दोनों का अन्तर स्पश्ट करते हुए मैक्सी कहते हैं बेन्थम का उपयोगतावाद का सिद्धान्त भेड़ियों के समाज में स्वार्थ को महत्व देता है और सन्तों के समाज में साधुता

को । मिल का यह संकल्प था कि चाहे कोई भी समाज हो उसमें उपयोगिता की कसौटी साधुता ही होनी चाहिए।

उपरोक्त वर्णन से स्पश्ट है कि जे०एस० मिल ने बेन्थम में तीन परिवर्तन किए – (1) सभी सुख एक जैसे नहीं हैं। मनुश्य को श्रेश्ठ सुख प्राप्त करने चाहिए बेन्थम का यह कहना गलत है कि प्रसापिन खेलने से जैसा सुख मिलना है वेसा ही कविता से षलत है। (2) सुख के स्त्रोत केवल बाहरी नही हैं। यह भावना से भी प्राप्त होता है । (3) समाज का आध्यात्मिक उद्देष्य है । व्यक्ति समाज का अंग है। इसीलिए उसका सुख समाज से अलग नहीं ।

प्रतिनिधि भासन

अपने पिता जेम्स मिल व बेन्थम की तरह मिल भी लोकतंत्र का समर्थक था। मिल ने अपनी पुस्तक ष्वदेपकमतंजपवद वद त्मचतमेमदजंजपअम ळवअमतदउमदज में प्रतिनिधि भास पर अपने विचार प्रस्तुत किये है। मिल प्रतिनिधि भासन की व्याख्या करते हुए कहता है कि, श्प्रतिनिधि भाासन का अर्थ यह है कि सम्पूर्ण जनता अथवा उसका अधिकांष भग स्वयं अपने द्वारा समय–समय पर निर्वाचित किये जाने वाले प्रतिनिधियों द्वारा उस नियंत्रक भाक्ति का प्रयोग करती है, जो प्रत्येक संविधान में कहीं निवास करती है ।

वह मुख्य रूप से विधानमण्डलों में अल्प–मतों की दयनीय दषा से चिन्तित था । अल्प–संख्यक कम संख्या में होने के कारण संसद में अपने हितों का प्रतिनिधित्व नहीं कर पाते। बहुसंख्यक लोग उनकी कमजोर स्थिति का फायदा उठाते हैं। वे उनके साथ निरंकुषता का व्यवहार करते है। मिल यह जानता था कि जिस तरह बहु संख्यकों के अधिकार हैं, उसी तरह अल्पसंख्यकों के भी अपने हित और अधिकार है ।

प्रतिनिधि माासन का स्पश्टीकरण निम्नलिखित भातों को पूरा करता है–मिल के

मतानुसार प्रतिनिधि भासन वह है जो 1. जनमत की स्वीकृति – वे लोग जिनके लिए

ऐसे भाासन की स्थापना की जाये, इसे स्वीकार करने के इच्छुक हों या फिर इतने

निच्छुक न हों कि इसकी स्थापना में बाधा डाले।

2. स्थायित्व – ष्इस भाासन के स्थायित्व के लिए जो कुछ करना सम्भव है उसे करने की लोगों में इच्छा या योग्यता।

3. योग्यता – इस भाासन के उद्देष्यों की प्राप्ति के लिए सरकार लोगों से जो कुछ कराना चाहे, उसे करने की योग्यता लोगों में हो और उन्हें करने के लिए लोग तैयार हों।

अल्पसंख्यकों के प्रतिनिधित्व की समस्या –– मिल का कहना है कि वास्तविक लोकतंत्र तभी स्थापित हो सकता है जब अल्प संख्यकों को भी चुने जाने का अवसर प्राप्त हो, इसके लिए उसने आनुपातिक प्रतिनिधित्व का सुझावदिया। इसका अर्थ यह है कि अल्प संख्य कों को उनकी संख्या के अनुपात में संसद में स्थानदिये जाये। इस तरह से प्रतिनिधि त्व प्राप्त करके अल्प संख्यकों को भासन प्रबन्ध में भागलेने दिये जायें। इस तरह से प्रतिनिधित्व प्राप्त करके अल्प संख्यकों को भासन प्रबन्ध मेंभाग लेने का मौका मिलेगा। उन्हे सुरक्षा प्राप्त होगी और अपने हितों की रक्षा करने कामौका मिलेगा।

लेकिन इस व्यवस्थ के बुरे प्रभाव भी हो सकते हैं। इससे अल्प संख्यकों व बहु संख्यकों के बीच मतभेद बढ़ेगें और स्थिर सरकार बनाने मे भी कठिनाई आ सकती है। आवष्यकता इस बात– की है कि व्यवस्थापक बुद्धिमान और दूरदर्षी हों। वे निजी स्वार्थ और लागत भावनाओं के ऊपर उठकर काम करने की क्षमता रखते हों।

बहुल या गुणात्मक मतदान –– मिल ने निर्वाचकों की समस्या पर भी ध्यान दिया उसका कहना था कि बुद्धिमान षिक्षित व गुणों मतदाताओं को मूर्ख, अषिक्षित व गुणहीन मतदाताओं से अधि क महत्व दिया जाना चाहिए। इसके लिए उसने बहुल मतदान का समर्थन किया। पढ़े लिखे व बुद्धिमान लोगों को योग्यता के अनुसार एक सेअधिक संख्या में मतह देने का अधिकार दिया जाये। उसका विचार था कि उच्च प्रकार कीबुद्धि और श्रेश्ठ चरित्र ही लोकतंत्र की रक्षा कर सकते है और निर्वाचकों के हितों की रक्षाकर सकते हैं। इसलिए उसने बहुल मत योजना के लिए सभी रास्ते खोल दिये। यह अधिकार एक गरीब को भी मिलना चाहिए बषर्ते वह बुद्धिमान और श्रेश्ठ चरित्र हों ।

मिल संसद सदस्यों को वेतन दिये जाने के पक्ष में नहीं था । इससे पेषेवर राजनीति पैदा होते हैं। संसद में तो सेवा भाव से प्रेरित लोग होने चाहिए। संसद के लिए चुने जाने वाले लोगों को चुनाव व्यय राज्य को देना अन्यथा वे लोग उस व्यय की पूर्ति संसद को सदस्यता से लाभ प्राप्त करके करते हैं ।

मतदाता की योग्यता– मिल ने यह भी कहा कि मताधिकार के लिए कुछ षिक्षा सम्बन्ध भार्ते होनी चाहिए। वह लिखता है, श्मैं इस बात को स्वीकार नहीं करता कि किसी ऐसे व्यक्ति को मताधिकार प्राप्त हो जो कि लिखना पढ़ना व गणित भी नं जानता हो।श लेकिन मिल का उद्देष्य आम आदमी को मताधिकार से वंचित करना नहीं था । इसीलिए उसने अनिवार्य षिक्षा का समर्थन किया।

भौक्षिणिक योग्यता के साथ–साथ मिल मतदाताओं की सम्पत्ति विशयक योग्यता पर भी बल देता है। उसका मत है कि जिनके पास सम्पत्ति होती है वे सम्पत्तिविहीन व्यक्तियों की तुलना में अधिक उत्तरदायित्वपूर्ण ढंग से आचरण करते है। सम्पत्तिविहीन व्यक्ति सार्वजनिक मामलों में अपव्ययी प्रवषत्ति अपना लेते हैं और जनता के हितों की उचित रूप में रक्षा नहीं कर पते !

खुला मतदान – मिल गुप्त मतदान का विरोधी तथा खुले मतदान का समर्थक हैं। उसका मत है कि मत देने का अधिकार एक पवित्र अधिकार है। जिसका प्रयोग बुद्धिमता, समझ और ईमानदारी के साथ सार्वजनिक रूप में किया जाना चाहिए। इस अधिकार के प्रयोग

में गोपनीयता रखना गुप–चुप किये जाने वाले अनुचित एवं कार्य के समान है। प्रो० टीष्चे ने भी मिल के समान गुप्त मतदान को ष्कुत्सित चालष् कहा है।

संसद के कार्य– मिल ने संसद के कार्यों का वर्णन किया है। संसद का कार्य सरकार को सीमा में रखना है। अगर सरकार जनहित में काम नहीं करती तो उस पर रोक लगाना संसद का काम है। इसी तरह से संसद में जनता द्वारा प्रस्तुत षिकायतों पर विचार होना चाहिए और उन्हें दूर करने के कदम उठाये जाने चाहिए। श्प्रषासन कार्य में संसद का उचित कार्य अपने मत द्वारा उसका निर्णय करना नहीं, बल्कि यह देखना है कि वे व्यक्ति उसका निर्णय करने योग्य हों।श इसी तरह से मिल नौकरषाही के बढ़ते हुए अधिकारों पर भी रोक लगाना चाहता था। वह लार्ड सभा का समर्थक था क्योंकि इस सदन मे बुद्धिमान लोगों को स्थान मिला हुआ है। वह तो कानून का मसविदा तैयार करने का काम लार्ड सभा को देने के पक्ष में था ।

उपरोक्त विचारों से पता चलता है। कि मिल ने मानव कल्याण की भावना को भासन सम्बन्ध विचारों में पूरा स्थान दिया। उसने प्रतिनिधियों की बुद्धि व चरित्र पर भी बराबर जोर दिया। उसने बेन्यंम के लोकतंत्रवाद को आध्यात्मिक आधार प्रदान कियां संसद सदस्यों को वेतन न देकर व निर्वाचन व्यय को सरकार पर डालकर तथा आनुपातिक प्रतिनिधित्व प्रणाली का समर्थन करके उसने व्याहारिक लोकतंत्रवादी होने का प्रमाण दिया ।

स्त्री मताधिकार ॅवउमद थ्तंदबीपेम) मिल भारू से ही स्त्रियों की दुर्दषा से चिन्तित था । उस समय राजनैतिक व सार्वजनिक जीवन में स्त्रियों का कोई स्थान नहीं था। वे घर की चहारदीवारी में कैद पुरुशों की सेवा व बच्चों को पालती थीं। कानून में भी स्त्रियों की निम्न स्थिति को स्थापितह कर दिया गया था। स्त्रियों की स्थिति वास्तव में गुलामों जैसी बनकर रह गई थी। विवाहित जीवन के बाहर स्त्री का समाज में काई स्थान नहीं था। अगर कोई स्त्री विवाह नहीं करती थी तो उसका जीवन और भी कश्टमय हो जाता था। वह कॉलेज में षिक्षा प्राप्त नहीं कर सकती थी। उसे नौकरियों के अयोग्य समझा जाता था। वह अपनी रोटी के लिए पुरुश पर निर्भर थी।

मिल को इन सब बातों को देखकर दुःख होता था। इसलिए उसने उनकी दषा सुधारने के लिए काम किया। उसने संसद में सबसे पहले स्त्री वर्ग के अधिकारों का जोरदार समर्थन किया। वह लन्दन में स्थित स्त्री मताधिकार समिति का सक्रिय समर्थक था । उसका कहना था कि अगर लिंग सम्बन्धी अन्तर केवल बाहरी है तो उसे दूर किया जा सकता है। उसने यह साबित किया कि पुरुश व स्त्री के बीच भेद बनावटी है जो पुरूश ने पैदा किया है। पुरुश स्त्री को सिर्फ अपनी वासना पूर्ति का साधन समझता है। अगर एक बार स्त्री जाति को भी पुरुश के बराबर अधिकार और अवसर दे दिये जायें तो वे भी अपनी श्रेश्ठता सिद्ध कर सकती हैं। पुरूश इसी डर से ऐसा नहीं होने देता ।

मिल ने कहा कि नौकरियाँ योग्यता के आधर पर दी जानी चाहिए न कि लिंग के आधार पर मिल यह बात कतई नहीं मानता कि बुद्धि या भारीर में स्त्रियाँ पुरुशों से कमजोर हैं। लेकिन पुरूशों ने ऐसा कहकर स्त्रियों को गुलाम जरूर बना रखा हैं।

मिल का इस समन्ध में कथन था कि, श्राजननीतिक अधिकारों के सम्बन्ध में लिंग के आधार पर भेद करना वैसा ही अप्रासंगिक मानता हूँ जैसे कि बालों के रंग के आधार पर मेद करना।

अगर कोई भेद ही करना हो तो महिलाओं को पुरुशों की तुलना में मताधि कार की अधिक आवष्यकता है क्योंकि भाारीरिक दृश्टि से निर्बल होने के कारण वे अपनी रक्षा के लिए विधि और समाज पर अधिक निर्भर हैं।

मिल ने उपयोगिता के आधार पर भी स्त्री मताधिकार का समर्थन कियां जिस तरह स्वषासन से पुरुशों का सुख मिलता है, उसी तरह से स्वतंत्र वातावरण में रहकर स्त्रियों को सुख प्राप्त होगा । इसके अलावा उन्हें अपनी प्रतिभा व योग्यता को बढ़ाने का मौका मिलेगा। समाज को भी पुरूशों व स्त्रियों के सुख से लाभ मिलेगा।

मिल के सभी मताधिकार सम्बन्धी विचार उसके समय से आगे थे। आज इंग्लैण्ड में स्त्रियों को सार्वजनिक जीवन मे बराबरी प्राप्त है। ऐसा बड़े संघर्श के बाद हुआ। इस संघर्श में जहाँ स्त्रियों के स्वयं के प्रयत्नों ने उल्लेखनीय भूमिका निभाई वहीं मिल सरीखे लोगो के योगदान को भी नहीं भुलाया जा सकता है।

प्रतिनिधि– मिल का विचार है कि प्रतिनिधि जनता का प्रत्यायुक्त मात्र ही नहीं होता हैं वरन् वह एक स्वतंत्र पथ प्रदर्षक होता है, जिसके द्वारा स्थानीय हितों के स्थान पर राश्ट्रीय हितों के अनुसार कार्य किया जाना चाहिए।

प्रजातंत्र और दक्षता का समन्वय– मिल के मतानुसार कानून निर्माण का कार्य अधिक योग्यता और अनुभव का कार्य है इसीलिए यह कार्य विधानसभा का न होकर दक्ष और अनुभवी व्यक्तियों को एक छोटी संस्था का होना चाहिए। इस संस्था में राजनीतिक दलों के नेता तथा दक्ष सरकारी कर्मचारी हों । विधानसभा का कार्य इस समिति के कार्यों को आलोचना करना तथा अवसर पड़ने पर उन्हें पद से हटाने तक ही समिति होना चाहिए, मिल का विचार है कि समाज के नीति निध रिण तथा कानून बनाने कार्य करने के लिए भासन में भी दक्ष तथा कुषल कर्मचारियों की आवष्यकता होती है। इस सम्बन्ध मे मिल का सुझाव है कि इन कर्मचारियों की नियुक्ति निर्वाचन के स्थान पर परीक्षा लेकर एक स्वतंत्र आयोग द्वारा स्थायी रूप से की जानी चाहिए। इन कर्मचारियों पर नियंत्रण रखने तथा उन्हें पदच्युत करने का अधिकार विधानसभा को दिया जा सकता है। जन प्रतिनिधियों को कर्मचारी वर्ग की जनता की इच्छाओं से अवगत कराना चाहिए तथा कर्मचारी वर्ग को उपयुक्त कार्य की सिद्धि के लिए सभी आवष्यक प्रयत्न करने चाहिए। इस प्रकार एक श्रेश्ठ भासन में प्रजातंत्र और कार्य कुषलता के बीच समन्वय स्थापित किया जाना चाहिए। मिल के प्रतिनिध्यात्मक भासन सम्बन्धी विचारों की आलोचना मिल के प्रतिनिध्यात्मक भासन सम्बन्धी विचारों की आलोचना निम्न आधारों पर की जाती

1. आनुपातिक प्रतिनिधित्व प्रणाली अनुपयोगी–आलोचकों का मत है कि अल्पसंख्यकों के उचित प्रतिनिधित्व प्रदान करने के लिए जिस आनुपातिक प्रतिनिधित्व प्रणाली को अपनाने का सुझाव दिया है वह जटिल तथा अनुपयोगी है यह पद्धति छोटे–छोटे अनेक राजनीतिक दलों के निर्माण को प्रोत्साहित कर प्रतिनिधि भासन के लिए संकट का कारण बन सकती है। इसके अतिरिक्त यह सर्व साधारण की समझ से भी बाहर है। प्रो० स्ट्रांग के भाब्दों में, श्सैद्धान्तिक दृश्टि से आनुपातिक प्रतिनिधित्व सभी प्रकार से श्रेश्ठ प्रतीत होता है, किन्तु व्यहार में स्थिति ऐसा नहीं है ।

2. खुला मतदान उचित नहीं मिल के विचारानुसार खुला मतदान अपनाने पर प्रजातंत्र न रहकर एक आतंकवादी और वर्गतंत्रीय व्यवस्था के रूप में परिणात हो जायेगा ।

3. बहुल मतदान अव्यवहारिक – मिल द्वारा प्रतिपादित बहुल मलदान सैद्धान्तिक दृश्टि से भले ही उचित प्रतीत हो किन्तु व्यवहार के अन्तर्गत अपनाने मे अधिक कठिनाईयाँ है ।

4. मताधिकार पर लगाये गये प्रतिबन्ध अनुचित – मिल के द्वारा मताधिकार पर भौक्षणिक तथा सम्पत्ति सम्बन्धी जो प्रतिबन्ध लगाये हैं वे न तो सैद्धान्तिक दृश्टि से औचित्यपूर्ण है और न ही व्यवहारिक है। व्यवहार में अनेक बार षिक्षित व्यक्तियों की अपेक्षा निरक्षर किन्तु व्यवहारिक ज्ञाने से सम्पन्न व्यक्ति अपने मताधिकार का भली प्रकार प्रयोग कर सकते है। इसके अतिरिक्त सम्पत्ति की योग्यता तो किसी भी प्रकार से उचित नहीं है।

रु निश्कर्श इस प्रकार स्पश्ट है कि मिल प्रतिनिधि भासन के दोशों तथा उसकी कमियों से परिचित तथा उन्हें दूर करने के प्रति जागरूक था। इस सम्बन्ध में वेपर लिखते हैं कि, शमिल प्रजातंत्र की बुराईयों से प्रजातंत्र की रक्षा करना चाहता था क्योंकि वह तत्कालीन आवष्यकता थी और ऐसा करने में वह सफल रहा। उसका महत्व चिरंजीवी तथा चिरस्मरणीय है ।

स्वतंत्रता पर विचार (View of Liberty)

मिल अपने स्वतंत्रता सम्बन्धी विचारों के लिए काफी प्रसिद्ध है। उसके स्वतंत्रता पर विचारों के कारण फ्रांस के क्रांतिकारियों ने उसे सम्मानित किया व उसे फ्रेंच नागरिकता प्रदान का थी । उसके स्वतंत्रता सम्बन्धी विचार हमें उसकी पुस्तक व्द स्पइमतजल में देखने को मिलते है। इस पुस्तक में उसने स्वतंत्रता के स्वरूप, व्यक्ति व समाज के लिये उसकी उपयोगिता नागरिकता और राज्य तथा व्यक्ति व लोकमत के बीच पाये जाने वाले संघर्शों की चर्चा की है।

मिल के समय तक इंग्लैण्ड में राजा की निरंकुषता खत्म हो गई थी। संसद की भाक्ति का विस्तार हो गया था। लेकिन एक नई समस्या यह पैदा हो गई थी कि संसद में बहुसंख्यक दल निरंकुष होने लगा था। इस बहुसंख्यक वर्ग की निरंकुषता से अल्पसंख्यक वर्ग की रक्षा करना एक समस्या थी ।

संसद में बहुसंख्यक वर्ग की निरंकुषता पर रोक– मिल ने लिखा है कि, श्स्वषसित राज्यों में जो लोग भाासन करते हैं, वे सदैव ही उन लोगों का ध्यान नहीं रखते जिनके ऊपर भाासन हो रहा है। इसीलिये आज स्वषासन का अर्थ यह नहीं है कि प्रत्येक व्यक्ति ऊपर भाासन कर रहा है बल्कि यह है कि प्रत्येक के ऊपर अन्य भाासन करते हैं कृकृकृ राजनीतिक चिनतन में बहुसंख्यक की निरंकुषता ऐसी बुराई समझी जाने लगी हैं, जिससे समाज को रक्षा करनी जरूरी है।

लोकमत से खतरा– मिल ने यह भी बताया कि संसद में बहुसंख्यक की निरंकुषता से अधि एक खतरनाक लोकमल हो सकता है। लोकमत के प्रभाव में कोई मनुश्य अपनी स्वतंत्र इच्छा से कार्य

नहीं कर सकता है। समाज तथा लोकमत दोनों ही मिलकर व्यक्ति को अमुक हप्रकार से कार्य करने के लिए बाध्य करते हैं, जिससे व्यक्ति अपनी बुद्धि का प्रयोग ही नहीं कर पाता है। इससे व्यक्ति के स्वयं विचार करने की भाक्ति समाप्त हो जाती है और वह हर कार्य के लिए दूसरों पर आश्रित हो जाता है। उसने लिखा है, शविचारषील मनुश्य ने यह भी देखा कि जब समाज स्वयं निरंकुष हो जाता है– समाज का निर्माण करने वाले विभिन्न व्यक्तियों के ऊपर उन व्यक्तियों का सामूहिक रूप से निरंकुष होने लगता है तो उसके दमन के साधन केवल राजनीतिक सत्ता के कार्यों और व्यवहारों तक ही समिति नहीं रहते । समाज स्वयं अपने आदेषों का पालन करता है इसलिये केवल न्यायाधीष का निरंकुषता से बचना हीं काफी नहीं है, प्रचालित लोकमत से भी बचने की आवष्यकता है।

स्वतंत्रता की समस्याएं – मिल ने अपनी पुस्तक (व्द स्पइमतजल) में बताया है कि वह जिन सिद्धान्तों को प्रतिपादित करने जा रहा है – वे केवल अपनी सामान्य प्रतिभाओं से युक्त वयस्क व्यक्तियों के लिए हैं। इन सिद्धान्तों का प्रयोग बालकों, अपरिपक्व व्यक्तियों तथा पिछड़ी जाति के लोगों पर नहीं किया जाना चाहिए। इनका उपयोग ऐसे लोगों पर भी नहीं होना चाहिए। जिनके मस्तिश्क विक त हों अथवा चिरत्र दूशित हो या जिनकी प वाह करने की जरूरत दूसरे लोगों को पड़ती हो । पिछड़ी जाति व हिंसात्मक प्रकृति वाले लोगों के लिए तो मिल ने निरंकुष भासन ही सबसे अच्छा बताया है। स्वतंत्रता के सिद्धान्त का प्रयोग ऐसे ही लोगों में होना चाहिए। जिन्होंने अपना विकास करने की क्षमता पैदा कर ली है ।

डॉ० वार्कर ने कहा है कि कार्य और विचार की स्वतंत्रतास की कल्पना से ऊपर उठकर मिल ने एक ऐसी स्वतंत्रता का रूप निर्धारित किया जिसमें व्यक्ति का आध्यात्मिक और लोकोत्तर विकास भी हो सकें।

स्वतंत्रता की धारणा– मिल का कहना है कि मनुश्य को अपने विकास के लिए अधिक से अधिक और ऐसे मिलने चाहिए जिनमें वह पूरी तरह अपना विकास कर सकें। उसका बौद्धिक क्षेत्र इतना व्यापक हो गया है कि वह अपना व्यक्तित वह निखार सकें। प्रष्न यह है कि मिल ने इस तरह के विचार क्यों अपनाये? इसका मुख्य कारण इंग्लैण्ड में तेजी से लोकतंत्रवाद का अपनाया जाना था। ब्रिटिष संसद अनेक प्रजातान्त्रिक विधियाँ बना रही थी। अधिक कानूनो के राज्य द्वारा बनाये जाने का. अर्थ व्यक्ति व उसकी स्वतंत्रता पर अधिक प्रतिबन्ध होना व उसका राज्यसत्ता के सामने नतमस्तक होना था। लोकतंत्र के इस भात्रु को मिल अच्छी तरह समझता था। उसका यह कहना ठीक ही था कि अगर नांगरिक का व्यक्तिगत उत्साह समाप्त हो जाता है तो किसी तरह की सामाजिक व राजनीतिक तरक्की सम्भव नहीं है।

लेकिन इसका यह अर्थ नहीं है कि मिल हर तरह के व्यक्तित्व को विकास के अवसर देने का समर्थन करता है। चोर को बेहतर चोर बनाने के पक्ष में नहीं था । वह मानता था कि व्यक्ति की भावना में एक अंष ऐसा भी होता है जिसके दमन की जरूरत होती है। लेकिन साथ ही वह व्यक्ति को ऐसी स्वतंत्रता देना चाहता था जिससे वह व्यक्तिगत रूप से स्वतंत्र रहते हुए भी सामाजिक कर्तव्यों और जिम्मेदारियों को न भूले।

स्वतंत्रता के प्रकार– मिल ने अपनी पुस्तक में व्यक्ति की स्वतंत्रता को दो भागों में बाँटा है– (1) विचार तथा भाशण की स्वतंत्रता, (2) कार्य की स्वतंत्रता ।

1. विचार तथा भाशण की स्वतंत्रता – मिल का मत है कि हर व्यक्ति को विचारों का अपनाने और उन्हें प्रकट करने की पूरी–पूरी स्वतंत्रता प्राप्त होनी चाहिए। उसका मत था कि प्रत्येक व्यक्ति निम्नलिखित में से किसी एक वर्ग में आता है–या तो व्यक्ति का मत सत्य है या मिथ्या अथवा कुछ सत्य और कुछ मिथ्या । यदि सरकार या प्रषासन किसी ऐसे मत का दमन करता है जो अपने स्थान पर सत्य है तो इसका मतलब यह है कि सरकार सत्य की खोज के मार्ग में बाधक है। यह सरासर अन्यायपूर्ण है। ऐसी अवस्था में अधिकारी में अधिकारी वर्ग बहुधा अपनी रक्षा करने के लिए ऐसी बात करता है कि हम उस समय यह नहीं कर सकते कि वह मत सही या गलत थ। लेकिन कम से कम उस समय तो यह हमें गलत ही लगा और हमने सोचा कि वह सार्वजनिक कल्याण के लिए हानिकारक हो सकत है। इस तरह के अधिकरी वर्ग ने यही सोचा कि जो कुछ उसका विचार है वही सत्य है, बाकी लोग जो कुछ सोचते हैं या कहते हैं वह गलत है।

सत्य को हम विरोधी विचारों के सम्पर्क में लाकर ही जीवित रख सकते हैं क्योंकि सत्य के अनेक पक्ष होते हैं और विभिन्न पक्ष परस्पर विरोधी नहीं वरन पूरक होते हैं। विभिन्न दृ श्टिकोणों से देखने पर ही हम सत्य के पूर्ण रूप को समझ सकते हैं। .

सरकार प्रायः यह दावा करती है कि हानिकारक मतों को रोकने का अधिकार रखती है। इस बात का उत्तर मिल ने इसह तरह से दिया कि अगर वह मत गलत या हानिकारक भी है तो सरकार को उसे दमन करने का कोई अधिकार नहीं है क्योंकि अगर कोई विचार गलत या असत्य भी था तो जनता स्वयं उसे समझ सकती हैं और उसकी निन्द कर सकती है। जनता खुद ही असत्य बात ठुकरा देगी। अगर कोई विचार आंषिक रूप में सत्य है तो उस पर प्रतिबन्ध नहीं लगाया जाना चाहिए क्योंकि उसमें उत्य का कुछ अंष तो है। मिल का कहना था कि झक्की या सनकी व्यक्तियों को भी अपने मतों का प्रचार करने से रोकना नहीं चाहिए, क्योंकि बहुधा देखा गया है कि जिनको समाज से सनकी समझा है, उन्ही में से किसी ने ऐसे विचार प्रस्तुत किये हैं जो युग की प्रवष्त्तियों का प्रतिनिधित्वं कर बैठे हैं!

इस सम्बन्ध में वह कहता है कि श्दस सनकी व्यक्तियों में से नौ निरर्थक बुद्ध हो सकते है किन्तु दसवाँ व्यक्ति मानव जाति के लिए इतना लाभदायक हो सकता है जितने अनेक साधारण व्यक्ति मिलकर भी नहीं हो सकते।

मिल व्यक्तिगत स्वतंत्रता की रक्षा न केवल राज्य के हस्तक्षेप वरन् असहिश्णु समाज बहुमत और परम्पराओं के दबाव से भी करने के लिए प्रयत्नषील है। इस सम्बन्ध में सेवाइन ने लिखा है कि, श्मिल को डर था कि स्वतंत्रता के लिए सबसे बड़ा खतरा सरकार की ओर से नहीं आता वरन् ऐसे बहुमत की ओर से आता है, जो नवीन विचारों के प्रति असहिश्णु होता है, जो विरोधी अल्पसंख्यकों को सन्देह की दृश्टि से देखता है और जो अपनी संख्या के जोर से उन्हें दबा देना चाहता है ।

मिल का विचार है कि चूँकि बहुमत सदैव ही सही नहीं हुआ करता, अतः बहुमत के द्वारा अल्पमत का दमन नहीं किया जाना चाहिए। सर्वश्रेश्ठ सरकार को भी सबसे बुरी सरकार ने अधिक अधिकार प्राप्त नहीं हो सकता। मिल के अनुसार श्यह हानिकारक है जबकि भासन इसका प्रयोग जनमत के विरूद्ध करता है और उस समय इससे भी अधिक हानिकारक है जबकि दूसरा प्रयोग जनमत के अनुकूल किया जाता है। यदि एक व्यक्ति को छोड़कर सम्पूर्ण मानवता एक ही विचार की हो, तो भी मानवता को इस एक व्यक्ति को मौन

रखने का इससे अधिक अधिकार नहीं हो सकता। जितना कि उस व्यक्ति को यदि उसके पास मात्ति हो तो सम्पूर्ण मानवता को मौन रखने का अधिकार हो सकता है ।

उसका कहना था कि अगर सारी मानव जाति में से एक व्यक्ति का भोश तमाम लोगों से भिन्न मत है तो भी उस अकेले व्यक्ति को अपने विचार प्रकट करने से नहीं रोकना चाहिए। जिस तरह से वह अन्य लोगों को मत प्रकट करने से नहीं रोक सकता उसी तरह से वे उसे नहीं रोक सकते हैं। मिल यहाँ तक कहता है कि समाज मे उस व्यक्ति नात्तिषाली होकर समस्त लोगों को अपना मत प्रकट करने से रोके ।

विचार व भाशण का स्वतंत्रता में मिल का मूलभूत विचार यह है कि हम सत्य को सिर्फ तर्क–वितर्क से ही जान सकते हैं। इसीलिए हमे किसी भी विचार को यों हीं स्वीकार नहीं कर लेना चाहिए बल्कि खुले मस्तिश्क से विचार करने के बाद ही कोई निश्कर्श निकालना चाहिए। वास्तव मे मिल का स्वतंत्रता सम्बन्धी विचार उपयोगिता पर आधारित था । व्यक्ति जब भाशण व विचार की स्वतंत्रता का प्रयोग करता है तो उसे सुख मिलता है। वह यह महसूस करता है कि समाज मे उसकी बात सुनी जाती है। वह समाज का एक महत्वपूर्ण अंग है। इससे मानव को ही नहीं समस्त मानव जाति को लाभ होता है। इसके विपरीत जैसा कि मिल ने कहा है कि शविचार की अभिव्यक्ति का दमन करने का एक विषिश्ट दोश यह है कि ऐसा करना मानव जाति की आगामी और वर्तमान पीढ़ियों को लूटना हैं ।

2. कार्य की स्वतंत्रता भाशण व विचार की स्वतंत्रता के साथ व्यक्ति के लिए कार्य की स्वतंत्रता की भी आवष्यकता है। मिल व्यक्तितव को मानवीय सुख का मुख्य तत्व तो मानता ही है, साथ ही उसे सामाजिक प्रगति का भी उच्चतम तत्व समझता है। लेकिन व्यक्तित्व को आचरण मे ष्प्रकट होने का भी अवसर मिलना चाहिए। उसका कहना था कि अगर कोई व्यक्ति स्वतंत्रतापूर्वक सोचता है, परन्तु दूसरों की आज्ञानुसार आचारण करता है तो उसके लिए यही बेहतर है कि वह गुलामी. का जीवन बितायें।

मिल के अनुसार, श्कार्य की स्वतंत्रता मानव जीवन के सुख का एक मुख्य तत्व है और वही वैयक्तिक एवं सामाजिक प्रगति का भी आवष्यक तत्व है ।

कार्य की स्वतंत्रता को कार्य इस सीमा तक महत्व बताने के बाद मिल ने इस बात पर . विचार किया है कि मनुश्य को कार्य की कितनी स्वतंत्रता मिलनी चाहिए। उस पर समाज का कितना नियंत्रण उचित है। वह राज्य के हस्तक्षेप की सीमाएँ तय करने के लिए मनुश्य के कार्यों को दो वर्गों मे बाँटता है–

1. स्व–विशयक – वे कार्य जो व्यक्ति के स्वयं से सम्बन्धित है 1 2. स्व विशयक – वे कार्य जो दूसरों से भी सम्बन्ध हैं पहले प्रकार के कार्य के अन्तर्गत वे कार्य आते हैं जिनका सम्बन्ध व्यक्ति के व्यक्तिगतजीवन से होता है। जैसे––खाना, पहलना, सोना, आचार–विचार आदि । मिल इन कार्योंके सम्बन्ध में व्यक्ति को पूर्ण स्वतंत्रता प्रदान करने के पक्ष में है।

मिल का कहना है जब तक कोई व्यक्ति ऐसा काम नहीं करता जिससे दूसरों पर प्रभाव नहीं पड़ता तो राज्य को हस्तक्षेप नहीं करना चाहिए। उदाहरण के लिए कोई व्यक्ति क्या खाता

है, कहीं. रहता है, कहाँ रहता है, कहाँ सोता है, यह उसके व्यक्तिगत मामले हैं जिनमें राज्य का हस्तक्षेप नहीं होना चाहिए।

मिल का विचार है कि व्यक्ति ही अपने हितों का श्रेश्ठ निर्णायक है ।अतः यदि कोई व्यक्ति घर के अन्दर जुआ खेलता है या भाराब पीता है तो राज्य को उसे ऐसा करने से नहीं रोकना चाहिए। दूसरों से सम्बन्धित या पर विशयक कार्य वे होते हैं जिनका प्रभाव समाज के अन्य व्यक्तियों पर पड़ता है। दूसरों से सम्बन्धित मामलों में राज्य कार्य की स्वतंत्रता पर उचित प्रतिबन्ध लगा सकता है ।यदि कोई व्यक्ति भाराव पीकर ऊधम मचाता है या तेजी से मोटर चलाता है तो राज्य व्यक्ति को भाराब पीकर ऊधम मचाने से या तेज रफ्तार से मोटर चलाने से रोक सकता है क्योंकि इन गलत काम से दूसरी को हानि हो सकती है। मिल का कहना है कि श्सभ्य समाज के किसी सदस्य पर उसकी इच्छा के विरुद्ध सत्ता का प्रयोग केवल एक ही उद्देष्य से किया जा सकता है और वह दूसरों को हानि से बचाता है ।

इस प्रकार मिल व्यक्तिगत कार्यों में राज्य के हस्तक्षेप का विरोधी है किन्तु सामाजिक जीवन या कार्यों में राज्य के हस्तक्षेप को स्वीकार करता है वह कहता है कि श्अपने ऊपर अपने भारीर व मस्तिश्क पर व्यक्ति सम्प्रभु है ।

यदि कोई व्यक्ति भाराब पीकर ऊधम मचाता है या तेजी से मोटर चलाता है तो डेविडसन ने मिल के स्वतंत्रता सम्बन्धी विचारों को संक्षेप विचारों को संक्षेप में निम्न तरहसे रखा है—

(1) व्यक्ति की भावनाओं और इच्छाओं को उचित स्थान दिया जाये। बौद्धिकता द्वारा इनका पूर्ण अपहरण नहीं करना चाहिए। (2) सामाजिक कल्याण की दृश्टि से व्यक्ति के दृश्टिकोण को उचित महत्व दिया जाये। इससे मानव कल्याण में व द्वि होगी और लोगो को आगे बढ़ने की प्रेरणा भी मिलेगी। (3) समाज की ऐसी परम्पराओं का विरोध किया जाये जिनसे भाशण और कार्य की स्वतंत्रता मे बांधा पड़ती है।

मिल के स्वतंत्रता सम्बन्धी विचारों की आलोचना

मिल के विचारों को जहाँ स्वतंत्रता प्रेमियों ने सराहा है वहीं उसकी आलोचना भी की गयी है—

1. तर्क—वितर्क से ही सत्य की खोज सम्भव नहीं मिल का कहना पूरी तरह से सही नहीं है कि सिर्फ तर्क—वितर्क से ही सत्य तक पहुँचा जा सकता है। गौतम बुद्ध ईसा व गांधी ने आत्मा की प्रेरणा से जो विचार रखे, वे भी सत्य का दर्षन कराते है। अतः चिन्तन के द्वारा भी सत्य की खोज —होती है। कलाकार अपनी मूर्ति से सत्य की खोज करत है। उसके जीवन में तर्क—वितर्क का कोई स्थन नहीं है।

2. खोखली स्वतंत्रता तथा काल्पनिक व्यक्ति — मिल की स्वतंत्रता खोखली इसलिए हैं क्योंकि यह केवल व्यक्ति तक सीमित है तथा वह समाज की उपेक्षा करता है ।काल्पनिक व्यक्ति इस अर्थ में कि वह राज्य का समाज से बाहर से बाहर से भी व्यक्ति की स्वतंत्रता की बात करता है।

डॉ० बार्कर ने लिखा है, श मिल हमें खोखली स्वतंत्रता और काल्पनिक व्यक्तिका ही दूत लगता है। व्यक्ति के अधिकारों के बारे में उसके पास कोई दर्षन नहीं है। वहसमाज की कोई ऐसी पूर्व कल्पना नहीं कर पाया जिसमें ष्राज्य और ष्व्यक्तिष का मिथ्या अन्तरअपने आप खत्म हो जाता ।

मिल के विचारों में काफी दोश है। वह सभी सनकी और बुद्धिहीन लोगों की स्वतंत्रता की हिदायत करता है। इसके खराब परिणाम हो सकते हैं। सनकी एक तरह से पागल होता है। उससे सत्य की आषा नहीं की जा सकती है। अगर एक हजार लोगों में से एक की बात मे सत्य का अंष है तो उसे जानने के लिए नौ सौ निन्यानवे झूठों को सुनना होगा। इसका समाज पर बहुरा असर पड़ सकता है।

3. व्यक्ति के कार्यों का विभाजन अव्यहारिक – मिल ने व्यक्ति की स्वतंत्रता को दो हिस्सों मे गलत बाँटा है। मनुश्य के कार्य उसने अपने से सम्बन्धित और दूसरों से सम्बन्धित बताये. है। यह भेद तर्कसंगत नहीं है। मनुश्य का कोई भी काम खुद से सम्बन्धित नहीं है। क्या समाज व्यक्ति को नंगा घूमने की इजाजत देगा या क्या राज्य व्यक्ति को सड़ा–गला खाकर खुद बीमार पड़ने व औरों को बीमार कराने का मौका देगा। अगर इन मामलों में राज्य नियम बनाता है तो उनसे व्यक्ति की स्वतंत्रता भले ही कम होती है लेकिन उससे समाज और व्यक्ति का भला होता है ।

4. मनुश्य सदैव अपने हितों का सर्वोत्तम निर्णायक नहीं – आलोचकों का मत है कि आज सामाजिक संगठन इतना अधिक जटिल है और मानव–जीवन के सम्मुख ऐसी विशम समस्यायें है कि व्यक्ति की भौतिक, नैतिक अथवा बौद्धिक आवष्यकताओं का स्वयं उसकी अपेक्षा समाज ही अधिक अच्छा निर्णायक हो सकता है। अतः व्यक्ति का अपने जीवन पर सम्प्रभुता का विचार सामाजिक जीवन के तथ्यों से मेल नहीं खाता है ।

5. सनकी व्यक्तियों को स्वतन्त्रता प्रदान करना उचित नहीं मिल विक त मस्तिश्क वाले लोगों को स्वतन्त्रता प्रदान नहीं करता है, किन्तु वह सनकियों को स्वतन्त्रता प्रदान करता है जो कि पूर्णतः अनुचित है। व्यवहार में विक त मस्तिश्क वाले और सनकी व्यक्तियों में कोई अन्तर नहीं होता है और सनकियों को भी स्वतन्त्रता प्रदान करना समाज के लिए अहितकर होगा। प्रो० मैक्कन के भाब्दों में, शसनकपन व्यक्तिवाद का प्रहसन है ।श सर सेस्ली स्टीफेन कहते है कि शसनकी व्यक्ति इस प्रकार बेडौल कटे हुए माहतीर के समान है, जिसका राज्य में कोई उपयोग नहीं हो सकता।श सकरात तथा ईसा मसीह के सनकियों की श्रेणी में रखना इन महान पुरुशों का अनादर करना है।

6. पिछडे वर्ग को स्वतन्त्रता नहीं मिल का यह विचार की समाज में पिछड़े लोगों को स्वतन्त्रता प्रदान न की जाये स्वीकार करने योग्य नहीं है। यह इस वर्ग के साथ अन्याय तथा प्रजातन्त्र का उपहास है। यह मिल के संकीर्ण विचारों को भी प्रकट करता है ।

7. अनुचित बहस को बढ़ावा मिल की विचार अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता से अनुचित बहस को बढ़ावा मिलता है। यदि समाज का प्रत्येक व्यक्ति छोटी–छोटी बातों पर भी तर्क करने लग जाये और बिना बहस के उन्हे मानने से इन्कार कर दें, तो इसके परिणाम निष्चित रूप से अच्छे नहीं होंगे।

8. राज्य का प्रतिबन्ध – मिल की यह धारणा दोशपूर्ण है कि राज्य व्यक्तियों के उन कार्यों को नियन्त्रित कर सकता है जो दूसरों को प्रभावित करते हैं। इसकी आड़ में तो राज्य व्यक्ति के किसी भी कार्यों को नियन्त्रित करने लग सकता है ।

9. निशेधात्मक धारणा – मिल द्वारा प्रतिपादित स्वतन्त्रता की धारणा पूर्णतया निशेधात्मक है क्योंकि वह नियन्त्रणों के अभाव को ही स्वतन्त्रता मानता है । स्वतन्त्रता केवल व्यक्ति के मार्ग में आने वाली कठिनाईयों को दूर करना ही नहीं है वरन् स्वतन्त्रता के लिए अवसरों की उपस्थिति भी आवष्यक है।

मिल की स्वतन्त्रता सम्बन्धी विचारों का महत्व

उपरोक्त आलोचनाओं का अर्थ यह नहीं है कि मिल की स्वतन्त्रता सम्बन्धी धारणा एकदम निरर्थक है। मिल के स्वतन्त्रता का दर्षन बहुत अधिक महत्वपूर्ण है जिसे निम्नलिखित रूपों में देखा जा सकता है।

1. लोकतन्त्र को बढ़ावा मिल के स्वतन्त्रता सम्बन्धी विचारों से लोकतन्त्र का मार्ग. प्रषस्त हुआ है। मिल ने व्यक्ति की महत्ता पर बल देकर लोकतन्त्र को मजबूत बनाया है तथा इस तथ्य को स्पश्ट किया है कि बहुमत भी निरंकुष हो सकता है।

2. व्यक्तिवाद का समर्थन – मिल ने स्वतन्त्रता सम्बन्धी विचारों से व्यक्तिवाद का समर्थन किया है तथा व्यक्तिवाद के विकास एवं उसकी उत्पत्ति में भारी योगदान दिया है। इस सम्बन्ध में मुरे का कथन है, शमिल के स्वतन्त्रता के निबन्ध में व्यक्तिवाद के दर्षन को उसका सबसे महत्वपूर्ण और सुसंगत योगदान मिलता है ।

3. विचार तथ अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता महत्वपूर्ण मिल के द्वारा जिस विचार तथा अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता का जो सषक्त समर्थन किया गया है. सम्पूर्ण राजनीतिक दर्षन में उसकी कोई समता नहीं है। इस सम्बन्ध में मैक्सी का कथन है कि, शविचार और अभिव्यक्ति की ष्स्वतन्त्रता के सम्बन्ध में मिल का लेख इस विशय पर सम्पूर्ण राजनीतिक साहित्य में प्राप्त सर्वश्रेश्ठ लेखों में से एक है जिसने वही उत्कृश्टा प्राप्त की है जो मिल्टन स्प्रिनोजा, वाल्टेयर, रूसों, पेन जैफरसन के विचार और अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता के अन्य प्रबल समर्थकों ने प्राप्त की हुई है। मिल के राज्य सम्बन्धी विचारराज्य की उत्पत्ति – मिल ने अपने दर्षन में समाज भाब्द का प्रयोग राज्य के अर्थ में कियाहै। राज्य की उत्पत्ति के सम्बन्ध में सामान्यता दो धारणायें प्रचलित रही हैं – (1) राज्यका स्वाभाविक विकास हुआ है, (2) राज्य मानवीय प्रयास का परिणाम है। मिल इन दोनोंविचारों के बीच का मार्ग अपनाते हुए कहता है कि, श्उद्यपि राज्य प्राकृतिक है, परन्तु उसकाविकास उस तरह से नहीं हुआ है जिस तरह से बक बार रोपे जाने के बाद मनुश्य के सोतेरहने पर भी पेड़ों का विकास होता रहता है। प्रत्येक सतर पर राजा का स्वरूप वैसा हीहोता है, जैसा कि मनुश्यों द्व ारा उसे प्रदान किया जाता है ।श स्पश्ट है कि व्यक्ति कीआवष्यकताओं की वृद्धि के स ाथ–साथ राज्य का विकास होता गया है, परन्तु यह विकासजड़ पदार्थों की तरह बरन् चेतन जीवों का विकास था। इस प्रकार, राज्य का उदयस्वाभाविक रूप में हुआ, किन्तु उसके विकास में मानवीय प्रयत्नों का निष्चित योग है।

राज्य का उद्देष्य – मिल के मतानुसार राज्य का उद्देष्य सामाजिक और सार्वजनिक कल्याण करना है। चूँकि राज्य का उद्देष्य मनुश्य के व्यक्तित्व का विकास करना है, अतः उसके कार्यों का संचालन इस प्रकार किया जाये जिसे उसके बौद्धिक और नैतिक गुणों का विकास हो तथ सामाजिक कल्याण की पूर्ति के लिए उनका उपयोग किया जा सके।

राज्य का कार्य क्षेत्र – मिलं नहीं चाहता था कि राज्य व्यक्ति के कार्यों में अकारण हस्तक्षेप करें, अतः वह राज्य के सीमित कार्यक्षेत्र का समर्थन करता है। उसका मत है कि व्यक्तियों को अपने व्यक्तित्व के विकास में सहायता करने के लिए कुछ स्थितियों में राज्य का हस्तक्षेप अपरिहार्य है। मिल के भाब्दों में, श्सरकार का बहुत अधिक मात्रा में हस्तक्षेप भाारीरिक अथवा मानसिक योग्यताओं के कुछ भाग के विकास को नश्ट करता है, जबकि वह व्यक्ति को उसकी इच्छानुसार कार्य करने में अथवा उसके निर्णय के अनुसार कि क्या वांछनीय है, कार्य करने में वंचित करता है ।

मिल के मतानुसार राज्य का कार्यक्षेत्र निम्नांकित कार्यों तक ही सीमित रहना चाहिए (1) राज्य का प्रथम कार्य देष व नागरिकों की विदेषी आक्रमणों से रक्षा करना है। (2) राज्य का दूसरा कार्य एक व्यक्ति की दूसरे व्यक्ति के अत्याचारों से रक्षा करना है । (3) राज्य को व्यक्ति की चोरी, डकैती और अन्य प्रकार से सम्पत्ति की हानि से रक्षा करनी चाहिए। (4) राजा को व्यक्ति की रक्षा झूठे समझौतों से तथ्य ठीक समझौते को तोड़ने वालों से रक्षा करनी चाहिए। (5) राज्य की अपाहिजों और अयोग्यों की रक्षा भी करनी चाहिए। (6) राज्य की प्लेग, मलेरिया आदि बीमारियों से भी व्यक्तियों की रक्षा करनी चाहिए।

इस प्रकार स्पश्ट है कि मिल राज्य के कार्यक्षेत्र को सीमित कर देना चाहता है।

व्यक्ति की स्वतन्त्रता को सुरक्षित रखने के लिए वह राज्य की भाक्ति या उसके कार्यों को सीमित कर देना चाहता है।

सर्वश्रेश्ठ भासन पद्धति

मिल के मतानुसार आदर्ष भासन, संचचा प्रजातन्त्र है जिसमें सभी व्यक्ति भासन कार्यों में भाग लें। मिल का मत है कि, श्आदर्ष सरकार वह है जिसमें सम्प्रभुता या अन्तिम नियन्त्रण की भाक्ति समुदाय के पूरे समूह में हो । प्रत्येक व्यक्ति द्वारा न केवल सम्प्रभु इच्छा को

व्यक्ति करने वरन् सार्वजनिक कार्यो के सम्पादन में भी किसी–न–किसी रूप–किसी रूप में सक्रिय भाग लिया जाना चाहिए।

मिल का मत है कि जहाँ केवल एक ही वर्ग के हाथ में सत्ता होता है वहाँ भासन वर्ग कितना ही विवेकषील क्यों न हो वह भासितों के हित पूर्णरूप से समझकर उनके हितों की रक्षा नहीं कर सकता। मिल का मत है कि प्रजातन्त्र में ही प्रत्येक व्यक्ति को अपने हित सुरक्षित रखने का अवसर मिलता है। प्रत्येक व्यक्ति के अधिकार और हित उसी समय तक सुरक्षित रहते हैं और उनकी अवहेलना नहीं हो सकती। जब मनुश्य में अपने अधिकारों के लिए खड़े होने का स्वाभाविक प्रवषत्ति हो । और यह प्रजातन्त्र से ही सम्भव है।

इस प्रकार मिल प्रजातन्त्र को ही सर्वश्रेश्ठ भाासन व्यवस्था मानता है। मिल ने प्रत्यक्ष प्रजातन्त्र को अव्यवहारिक मानकर प्रतिनिधि भासन को ही अपनाने पर बल दिया है। साथ

ही उसने यह भी स्पश्ट कर दिया है कि अलग–अलग प्रकार के समाज के लिए विभिन्न प्रकार का भासन. उपयुक्त हो सकता है।

मिल व बेन्थम की तुलना – मिल का मूल्यांकन

बेन्थम पूरी तरह से उपयोगितवादी विचारक था जबकि मिल उपयोगिवादी से अधिक एक व्यक्तिवादी विचारक था। उसने बहुत से स्थानों पर बेन्थम के विचारों से असहमति प्रकट की है। उसने एक बार लिखा था

1. मिल ने बेन्थमवादी अध्यात्मिक की कठोरता को नरम बनाया। उसने उपयोगितवादी को अधिक मानवीय बनाया और उसे यह सिद्धान्त भी दिया कि सुख केवल मात्रा में ही असमान नहीं होते बल्कि गुणों में भी होते हैं। जबकि बेनथम पुश्पिन नामक खेल से प्राप्त सुख वैसा ही मानता है जैसा कि कविता पड़ने से मिलता है। मिल ने यह बताया कि एक सन्तुश्ट सूअर असन्तुश्ट मानव होना बेहतर है। इसके अलावा मिल ने बेन्थम के व्यक्तिगत सुख सम्बन्धी सिद्धान्त को स्वीकार नहीं किया। उसने सार्वजनिक सुख और व्यक्तिगत सुख के बीच की खाई को समाप्त करने का प्रयत्न किया। उसने लिखा है कि उपयोगिवादी नैतिकता के पूर्ण सिद्धान्त का अर्थ यह है कि दूसरों के साथ बैसा ही व्यवहार करो जैसा अपने साथ आषा करते हो अपने पड़ोसियों से उतना ही प्रेम करो जितना स्वयं से करते हो

2. बेन्थम ने सार्वजनिक सुख को बढ़ाने के लिए बाह्म मर्यादाएँ भी स्वीकार की जबकि मिल ने बाह्य आन्तरिक दोनों ही मर्यादाओं को स्वीकार किया। उसने प्रत्येक व्यक्ति में सबसे सबको सुखी देखने की इच्छा होती है। इस तरह सार्वजनिक सुख को बढ़ाने की इच्छा होती है। उसने आगे कहा, श्क्योंकि ष्अष का सुख अच्छाई है, ष्बष का सुख एक अच्छाई है, ष्सष का सुख एक अच्छाई है– इन सब सुखों का योग भी एक अच्छाई होगा ।

3. मिल बेन्थम की गुप्त मतदान प्रणाली को स्वीकार नहीं करता। उसने सार्वजनिक मताधि कार और स्त्री मताधिकार का समर्थन किया, इस तरह बेन्थम से मिल अधिक उदार था।

4. बेन्थम ने लोकतन्त्रवाद को समर्थन मानव स्वभाव के आधार पर किया । बेन्थम यह स्वीकार करता है कि लोकतन्त्र हर प्रदेष के लिए श्रेश्ठ भासन है। मिल इस बात से सहमत नहीं है। उसका कहना है कि उद्यपि लोकतन्त्र एक श्रेश्ठ भासन है लेकिन यह पिछड़े और असभ्य लोगों के लिए नहीं है ।

मिल का योगदान मिल का राजनीतिक विचारकों में महान स्थान था । बायल ने लिखा है, यदि लेखकों की योग्यता का निर्णय इस बात से होता है कि उसका नीति पर क्या ।

अभ्यास प्रष्न

1. जे० एस० मिल के स्वतन्त्रता संबंधी विचारों का आलोचनात्मक मूल्यांकन कीजिए।

2. जे0 एस0 मिल के उपयोगितावादी से समझाइये

3. प्रतिनिधि भ्रासन पर मिल के विचारों के वर्णन करें।

4. राज्य के सम्बन्ध में जे० एस० मिल के विचारों पर टिप्पणे लिखें।

इकाई – 13

जार्ज विल्हेल्म फेडरिक हीगल

(HEGEL) (1770–1831)

हीगल एक जर्मन दार्षनिक था। उसकी प्रसिद्ध पुस्तक षफिलोसॉफी ऑफ राइट है। उसके कुछ भाशण में उसकी मृत्यु के पष्चात् षफिलोसॉफी ऑफ हिस्ट्रीष के नाम से प्रकाषित हुए। हींगल को दार्षनिकों का राजा ही नहीं, राजाओं का दार्षनिक भी कहा जाता है। वह राजकीय विश्वविश्वविद्यालय में प्रोफेसर था। इसलिए उसने तत्कालीन व्यवस्था अर्थात् निरंकुष राजतन्त्र का समर्थन किया। कहा जाता है कि. शबिस्मार्क व हिटलर जैसे निरंकुषवादियों ने उसी से प्रेरणा ली थी।श एक लेखक लिखता है, शबिस्मार्क का भाक्ति पर मानव क्रिया से उच्चतम लक्ष्य के रूप में राश्ट्रीय राजय पर बल देना, उसका यह विश्वास कि राज्य व्यक्तियों का समूह मात्र नहीं है, बल्कि एक सावयवी सम्पूर्ण है। उसका लोकतन्त्र व नौकरषाही का समर्थन और उसके अन्तर्राश्ट्रीय सम्बन्धी सिद्धान्त इस सबकी जड़ हीगल का विचार था ।

जीवनी – हीगल का जन्म जर्मनी के एक नगर स्टुटगार्ड में सन् 1770 में हुआ था। उनके पिता वैर्टनवर्ग एक सरकारी पदाधिकारी थे। सन् 1788 से 1793 तक हीगल ने ट्यूबिंगन विश्वविद्यालय में धर्मषास्त्र की षिक्षा पाई। सन 1801 में हीगल ने अपने भोध प्रबन्ध ष्नक्षत्रों की कक्षायें का मण्डल किया और येना विश्वविद्यालय में प्राध्यापक बन गये। सन् 1807 में उनकी षफिनोमिनोलॉजी ऑफ स्प्रिंटष नामक रचना प्रकाषित हुई, जिसमें उन्होंने विकासषील चेतना के विभिन्न चरणों पर प्रकाष डालते हुए द्वन्द्वात्मक विष्लेशण के एक विषेश उपकरण के नाते बोध का दार्षनिक महत्व प्रतिपादित किया। अक्टूबर 1816 में हीगल हाइडलवर्ग विश्वविद्यालय में प्रोफेसर बन गये। अक्टूबर 1818 से 14 नवम्बर 1831 तक (मृत्युपर्यन्त) हीगल बर्लिन विश्वविद्यालय में प्रोफेसर रहे। 61 वर्श की उम्र में 14 नवम्बर, 1831 के अचानक हैजे की बीमारी से उनका देहान्त हो गया। बर्लिन विश्वविद्यालय के प्रोफेसर के रूप में हीगल को अपूर्ण ख्याति मिली। उन्हें जर्मनी का राश्ट्रीय दार्षनिक कहा जाने लगा । हीगल की रचनाएँ

हीगल की रचनायें निम्नलिखित हैं–

(1) फिनोमिनोलॉजी ऑफ स्प्रिंट

(2) साइंस ऑफ लोजिक ।

(3) ऐनसाइक्लोपीडिया ऑफ दि फिलोसोफिकल साइन्स

(4) फिलोसॉफी ऑफ लॉ

(5) कॉन्स्टीट्यूसन ऑफ जर्मनी

(6) दी फिलोसॉफी ऑफ हिस्ट्री

आध्यात्मिक द्वन्द्ववाद

हीगल का मत है कि मानवीय सभ्यता की प्रगति या विकास कभी भी एक सीधी रेखा के समान नहीं होता है। जिस प्रकार एक जहाज प्रचण्ड तूफान के थपेड़े खाता हुआ अपना मार्ग बनाता है, उसी प्रकार से मानव सभ्यता भी अनेक टेढ़े–मेढ़े रास्तों से होती हुई आगे बढ़ती है। चूँकि राज्य एक जड़ वस्तु नहीं वरन् एक विकसित संस्था है, अतः इसका अध्ययन विकासवादी दृश्टिकोण के आध र पर ही किया जाना चाहिए। विकास की प्रक्रिया में निम्न कोटि की वस्तुएँ उच्च कोटि की वस्तुओं में विकसित होकर पूर्णता प्राप्त करती है और उनकी निम्नता नश्ट न होकर उच्चता ग्रहण कर लेती है । विकसित होने के बाद कोई भी वस्तु वह नहीं रहती जो पहले थी वरन् कुछ आगे बढ़ जाती है। हींगल ने इसी विकासवादी प्रक्रिया को द्वन्द्वात्मक पद्धति का नाम दिया है।

हीगल अपने विचार इस धारणा से आरम्भ करता है कि विश्व एक सम्पूर्ण इकाई है। इसमें सामयविक एकता (व्तहंदपब नदपजल) है जिसे वह अन्य नामों भाव (प्कमं) आत्मा (ैचपतपज), प्रज्ञा (त्मेंवद) अथवा दैवी विवेक (क्पअपदम डपदक) से सम्बोधित करता है, एकमात्र वास्तविकता है। प्रत्येक वस्तु जिसके अन्तर्गत पदार्थ व बाहरी दुनिया भामिल है। इसी भाव, आत्मा व प्रज्ञा से उत्पन्न हुई है। इसलिए यह कहना सही होगा कि भाव या आत्मा ही विश्व प्रभु (त्मेंवद पे जीम ेवअमतमपहद व ि जीम ॅवतसक) है। हीगल यह बताता है कि इस आत्मा व प्रज्ञा का स्वभाव अन्य विशयों के सम्बन्ध में खोज करना व ज्ञान प्राप्त करना है। धीरे–धीरे, जैसे–जैसे यह विश्व के इतिहास में प्रगति करती जाती है, इसका ज्ञान बढ़ता जाता है और तब तक बढ़ता है, जब तक यह अपने उद्देष्य–– प्रत्येक बात का पूर्ण ज्ञान प्राप्त नहीं कर लेता है। दूसरे भाब्दों में, क्योंकि वह स्वयं ही सब कुछ है, अपने ही विशय में अन्त में पूर्ण ज्ञान प्राप्त करती है।

इस तरह से हीगल कहता है, कि श्विश्व का इतिहास हमारे सामने एक बौद्धिक प्रक्रिया प्रस्तुत करता है, श्आत्मा अपने लक्ष्य तक पहुँचने में बहुत प्रयोग करती है। यह बहुत से आवरण ओढ़ती है, जिन्हें वह उस समय के लिए उपयुक्त समझती है और अन्त में त्याग देती है। इसी बात को हीगल संक्षेप में इस तरह कहता है, बौद्धिक ही वास्तविक है, वास्तविक ही बौद्धिक है हीगल, फिण्टे के इस विचार को अस्वीकार करता है कि केवल आदर्ष राज्य बौद्धिक है औरवर्तमान राज्य अबौद्धिक है। हीगल करता है कि प्रत्येक राज्य बौद्धिक होता है और पूरेसम्मान का पात्र होता है। हीगल का वास्तविकता को आदर्ष रूप देने का यह स्वभाव उसकेइस विचार पर आध रित है कि संसार में जो कुछ भी होता है, उसका कारण यह होता हैकि आत्मा को उसकी आवष्यकता होती है और जो भी चीज आत्मा चाहती है. वह सदैवसही होता है ।

समस्त इतिहास में आत्मा पुनर्जन्म लेती है। वह कश्ट उठाती है, मर जाती है, फिर पैदा होती है और गौरव प्राप्त करती है। इस तरह से हीगल का सिद्धान्त परिवर्तन का सिद्धान्त है और यह परिवर्तन भी बुरे से अच्छे की ओर होता है। जो लोग यह कहते हैं कि हीगल रूढ़िवादी था, उन्हें भी यह मानना पड़ेगा की हीगल प्रगति व परिवर्तन के नियम का स्वीकार करता है।

लेकिन हीगल सिर्फ यही नहीं बताता कि इतिहास आत्मा की गति का लिखा है। विस्तार से यह भी बताता है कि आत्मा किस तरह के एक रूप से दूसरे रूप में प्रकट होती है। इस

क्रिया का वर्णन वह अपने सिद्धान्त द्वन्द्ववाद के द्वारा करता है, ष्डायलेक्टिकष भाब्द यूनानी भाशा ष्डायलेगोष भाब्द से लिया गया है, जिसका मतलब विचार–विमर्ष या वाद–विवाद करना होता है। सुकरात व प्लेटे ने बहुत पहले इस तरीके का प्रयोग किया था। इस तरीके में वाद–विवाद के द्वारा विचार–विमर्ष किया जाता है और सत्य की खोज की जाती

हीगल बताता है कि कोई भी वस्तु जो जन्म लेती है, वाद कहलाती है, उसकी विरोधी बात प्रतिवाद होता है। बाद तथा प्रतिवाद दोनों में ही गुण व दोश कहते हैं, क्योंकि दोनों परस्पर विरोध होते हैं। अतः उनमें संघर्श होना स्वाभाविक है। इस संघर्श का परिणाम एक नई तीसरी चीज का जन्म संवाद के रूप में होता है। संवाद की स्थिति वाद तथा प्रतिवाद दोनों से श्रेश्ठ होती है, क्योंकि उसमें वाद तथा प्रतिवाद दोनों के गुण की भावनाओं का मिश्रण होता है। संवाद के बाद एक ऐसी स्थिति आती है जब संवाद स्वयं एक बाद जाता है फिर उसी तरह वाद और प्रतिवाद का संघर्श आरम्भ हो जाता है। उसका परिणाम पुनः संष्लेशण होता है। यह क्रिया चलती रहती है। संक्षेप में, हीगल के दर्षन का रहस्य विकास है, जो कि द्वन्द्वात्मक प्रणाली के आधार पर अनन्त तक चलता रहता है।

हीगल इसी द्वन्द्वात्मक प्रणाली के आधार पर समाज तथा राज्य के विकास का अध्ययन करता है। उसका विचार है कि यूनानी राज्य ष्वादष थे, धर्मराज्य उसके ष्प्रतिवादष तथा राश्ट्रीय राज्य उनका एक ष्संवादष होगा। वह कला, धर्म तथा दर्षन को भी वाद, प्रतिवाद तथा संवाद मानता है । हीगल के मतानुसार द्वन्द्व की इस पद्धति से ही विश्व के सभी विचार विकसित होते हैं। द्वन्द्वात्मक प्रणाली की विषेशताएँ

हीगल द्वारा प्रतिपादित द्वन्द्वात्मक प्रणाली की प्रभु विषेशताएँ निम्नांकित हैं–

(1) हीगल की द्वन्द्वात्मक प्रणाली स्वतः प्रेरित तथा स्वतः संचालित स्थिति है और इसी आधार पर वह निरन्तर प्रतिगामी है।

(2) द्वन्द्वात्मक प्रणाली प्रगति के व्यवस्थित विचार से सम्बन्धित है। उसका विचार है कि मानव प्रगति को निर्धारित करने वाला तत्व विश्वात्मा का विवेक है। यह विवेकपूर्ण विश्वात्मा अपने विकास के लिए विभिन्न अवस्थाओं को धारण करती है तथा लक्ष्य सिद्धि तक उसे निरन्तर आगे बढ़ाती है। यह व्यवस्थित मानव प्रगति द्वन्द्वात्मक पद्धति के माध्यम से ही सम्भव है । –

हीगल का विचार है कि प्रगति या विकास दो परस्पर विरोधी वस्तुओं व भाक्तियों में द्वन्द्व अथवा संघर्श का परिणाम है। इस प्रकार संघर्श ही विकास का माध्यम है। संघर्श की प्रक्रिया ही याद, प्रतिवाद तथा संवाद को जन्म देती है। संवाद में पहले दोनों के गुण विद्यमान होते हैं तथा जो वाद तथा प्रतिवाद से उच्च स्थिति का प्रतीक हैं।

उदाहरणार्थ – हीगल के अनुसार, जीव एक संघर्श का परिणाम है। यह वीर्य (वाद) और रज (प्रतिवाद) के संयोग से गर्भाषय में नौ माह बाद षिषु का रूप (संवाद) धारण करता है। षिषु उस समय तक संवाद रहते हैं, जब तक की उनमें प्रजनन के लिए वीर्य या रज का उत्पादन नहीं हो जाता । वनस्पति जगत में इसे बीच के उदाहरण से स्पश्ट किया जा सकता है। मटर के एक दाने का खेत में बोया जाना वद है। धरती में इस दाने का रूपान्तर होकर अंकुर बनना प्रतिवाद है। पौधे के रूप में विकसित होने की तीसरी दषा संवाद हुई।

इसमें बाद और प्रतिवाद के आवष्यक तत्त्वों ने मिलकर एक नई स्थिति का निर्माण किया, जो दोनों से भिन्न एवं उत्कृश्ट है ।

इसी प्रकार परिवार वाद है, समाज प्रतिवाद है और राज्य संवाद है, जो दोनों परिवार व समाज से उत्कष्ट है ।

(4) हीगल का यह मान्यता है किं संघर्श की इस समस्त प्रक्रिया में विचार को ही प्रमुख स्थिति प्राप्त होती है। विचार ही पदार्थ की स्थिति को नियंत्रित तथा निर्धारित करता है। इसी आद र पर कुछ लेखकों के द्वारा हीगल के द्वन्द्ववाद को आध्यात्मिक द्वन्द्ववादष का नाम दिया गया है।

इसी प्रकार स्पश्ट है कि हीगल के अनुसर सामाजिक प्रगति विरोधी तत्वों के माध्यम से होती. है। ये विरोधी तत्व आपस में टकराते हैं और उनके टकराव से एक नये विचार का जन्म होता है जिसमें सहयोगी और विरोधी दोनों ही प्रकार के तत्वों का सम्मिश्रण होता है और वह उनसे बढ़कर स्थिति में होता है। इस प्रकार प्रगति की यह प्रक्रिया आदर्षो की प्राप्ति तक बराबर चलती रहती है और सामाजिक विकास की गति निरन्तर नये लक्ष्यों की ओर बढ़ती है। इस सम्बन्ध में राइट कहते हैं कि श्द्वन्द्ववाद विषुद्ध तर्क की अत्यन्त निराकार धारणा से प्रारम्भ होता है और इसकी समाप्ति विचार के अत्यन्त साकार रूप अपनी पूर्ण व्यापकता तथा साकारता के साथ निरपो बुद्धि के दर्षन के रूप में होती है ।

द्वन्द्वात्मक पद्धति द्वारा हीगल का मुख्य उद्देष्य जर्मन राश्ट्रवाद के पूर्णत्व को प्रमाणित करना था। उस समय जर्मनी अनेक छोटे–छोटे राज्यों में विभक्त था और राश्ट्रीय भावनाएँ लगभग मिटती जा रही थीं। हीगल ने कहा कि यूनानी राज्य वाद थे, धर्म राज्य उसके प्रतिवाद और राश्ट्रीय राज्य उसका एक संवाद है। हीगल की कामना थी कि र्जमनी में भी राश्ट्रीय राज्य का उदय होगा। द्वन्द्वात्मक प्रणाली की आलोचना हीगल के द्वन्द्वात्मक प्रणाली की आलोचना निम्नांकित रूपों में की जाती है––

(1) द्वन्द्वात्मक पद्धति द्वारा हीगल ने विभिन्न वस्तुओं में विरोध की अनावष्यक कल्पना कर ली है। हीगल जहाँ कहीं थोड़ी भिन्नता देखता है, वहाँ तुरन्त द्वन्द्वात्मक विरोध की कल्पना करके वाद, प्रतिवाद और संवाद के त्रिकोण की स्थापना कर देता है।

(2) हीगल ने इस प्रणाली को बहुत ही मनमाने तरीके से अपनाया है तथा खींचतान करके इसे ऐसे तथ्यों पर भी लागू करने का प्रयास किया है जिन पर इसे सफलतापूर्वक लागू नहीं किया जा सकता ! उदाहरणार्थ– हीगल सम्पूर्ण विश्व के इतिहास को तीन युगों– (1) पूर्वी युग, (2), यूनानी तथा रोमन युग व (3) जर्मन युग में विभाजित करता है। यह स्थिति इतिहास की दृश्टि से सत्य से बहुत दूर, भ्रान्तिपूर्ण और दूशित मनोव त्ति की परिचायक है। यह पद्धति हमें वास्तविकताओं का ज्ञान कराने के बजाय विभिन्न भ्रान्तियों के जाल में उलझा देती है ।

(3) आलोचकों के अनुसार, हीगल की पद्धित अस्पश्ट और क्लिश्ट है। उसके द्वन्द्व की अस्पश्टता को उसके द्वारा प्रस्तुत विभिन्न उदाहरणों में देखी जा सकता है। .

(4) हीगल की आलोचना करते हुए सेबाइन ने लिखा है कि उसने विभिन्न पारभाशिक भाब्दों का जिनकी परिभाशा करना कठिन है, का प्रयोग बड़ी अस्पश्टता के साथ किया है।

हीगल द्वारा प्रतिपादित द्वन्द्वात्मक प्रणाली में वैज्ञानिकता का अभाव है। इस प्रणाली को अपनाने पर मनमाने रूप से बाद प्रतिवाद तथा संवाद की स्थिति उत्पन्न करके किसी भी अच्छी व्यवस्था को बुरी तथा बुरी व्यवस्था को अच्छी सिद्ध किया जा सकता है। इस पद्धति की अवैज्ञानिकता इस बात से स्पश्ट है कि इस पद्धति को अपनाकर हीगल तथा मार्क्स ने राज्य के सम्बन्ध में परस्पर नितान्त विरोधी धारणाएँ व्यक्त की। इस पद्धति का प्रयोग करके हीगल के प्रषिया के षनिरंकुष राजतंत्र को विश्व की सर्वश्रेश्ठ व्यवस्था सिद्ध की। वेपर के भाब्दों में, श हीगल की यह पद्धति सिर्फ नाममात्र के लिए ही वैज्ञानिक है क्योंकि इसका विकास विज्ञान के बगीचे में नहीं वरन् एषिया के भाासन की दासता के कूड़े में हुआ।श

इस प्रकार कहा जा सकता है कि विभिन्न घटनाओं और विकासक्रमों की व्याख्या करने वाले सिद्धान्त के रूप में यह प्रणाली बहुत भ्रामक है।

द्वन्द्वात्मक प्रणाली की उपयोगिता या महत्व – इन आलोचनाओं के बावजूद द्वन्द्वात्मक पद्धति में निम्नलिखितगुण हैं–

इसके द्वारा वस्तुओं को यथार्थ रूप में समर्थन में मदद मिलती है।

(2) इस पद्धति द्वारा स्पश्ट होता है कि सभ्यता का विकास कोई आकस्मिक घटना नहीं है । बट्रेण्ड रसल के भाब्दों में, शहीगल की द्वन्द्वात्मक पद्धति मानव मन की कार्यप्रणाली को सुचारू रूप से चित्रित करती है क्योंकि कई बार मानव मन इसी प्रकार के विरोधों के मार्ग से आगे बढ़ता है ।

हीगलके राज्य सम्बन्धी विचार– हीगल का दर्षन आधुनिक राजनीतिक विचारधारा में पूर्णतः एक नये परिवर्तन करने का प्रयत्न करता है। उसने राश्ट्रीय राज्य के विचार को उच्चतम स्थान दिया। उसके दर्षन का उद्देष्य इसी इकाई राश्ट्र की महानता व श्रेश्ठता को स्थापित करना था । राज्य राश्ट्रीय विकास एवं प्रगति का निर्देषक तथा साध्य है। राज्य महान संस्था है, समस्त सभ्यता च संस्क ति की जननी है। ये विचार वास्तव में, तत्कालीन जर्मनी राजनीतिक स्थिति से ही प्रभावित थे।

हीगलराज्य को अरस्तू की भाँति एक स्वाभाविक संगठन मानता है। उसका विचार है कि व्यक्ति का उच्चतम विकास राज्य में ही सम्भव है। हीगल राज्य को व्यक्तियों के एक कोरे समूह के स्थान पर श्वास्तविक व्यक्तित्व रखने वाली सत्ता एवं विश्वात्मा की अभिव्यक्तिष मानता है।

.राज्य की उत्पत्ति–– हीगल आध्यात्मिक द्वन्द्ववाद के द्वारा राज्य की उत्पत्ति की व्याख्या करता है। वह कहता है कि कोई भी वस्तु ष्वादष के रूप में जन्म लेती है। उसका ष्प्रतिवादष भी पैदा हो जाता है। इन दोनों के संघर्श में संष्लेशणष पैदा होता है। इसमें वाद तथा प्रतिवाद दोनों के गुण होते हैं । यह बताता है कि राज्य का निर्माण दो प्रकार के तत्वों से होता हैं एक ओर तो विश्वात्म अपने लक्ष्य की ओर बढ़ती हुई इसके विकास में सहयोग देती है तथा दूसरी ओर मनुश्य अपने को पूर्ण बनाने का प्रयत्न करते हुए इसका निर्माण करते हैं। मानवीय जीवन का सार स्वतंत्रता है और स्वतंत्रता की चेतना की प्रगति ही विश्व का

इतिहास है। स्वतंत्रता की प्राप्ति हेतु अब तक जो मानवीय संगठन बनाये गये हैं उनमें सर्वप्रथम था परिवार ।

राज्य की प्रकृति

हीगल के अनुसार, परिवार सामाजिक जीवन की प्रारम्भिक इकाई है, परन्तु विभिन्न प्रकार से आवष्यकताओं की पूर्ति की दृश्टि से परिवार बहुत छोटा समुदाय था। जब परिवार के सदस्यों की संख्या बढ़ी तो यह बात बिल्कुल साफ हो गई। परिवार से सबकी आवष्यकता पूरी न हो सकी तो बहुत से सदस्यों का परिवार से बाहर जाना षुरू हो गया। इस बाहर के जगत को हीगल बुर्जुआ समाज या नागरिक समाज (ठवनतहमवपे ैवबपमजल) कहत है। बुर्जुआ समाज मनुश्यों व स्त्रियों का एक ऐसा समूह था, जो कि संविदा ((ब्वदजतंबज) और निजी हितों से बँधा हुआ था, जबकि परिवार का आधार स्नेह व सहयोग था, बुर्जुआ समाज का आधार व्यापक प्रतिस्पर्द्धा व स्वार्थ था। बुर्जुआ समाज की व्यापार तथा वाणिज्य की प्रक्रिया समाज की आवष्यकताओं की पूर्ति के लिए नया संगठन हो गया, जिसका उद्देष्य न केवल परिवार की आवष्यकताओं को पूरा करना था, बल्कि अपने अन्य साथियों की आवष्यकताओं को भी पूरा करना था ।

इस प्रकार के कार्यों से बुर्जुआ समाज एक नैतिक, बौद्धिक व व्यापक स्थान ग्रहण कर लेता है, साथ ही बुर्जुआ समाज अपने कानूनों का निर्माण करता है और धीरे–धीरें राज्य के रूप को अपना लेता है। जैसे–जैसे यह विस्तार करता है, वह अपने गिल्ड व कॉरपोरेषन्स बना लेता है जो सदस्यों को यह षिक्षा देते हैं कि उन्हें केवल अपने हितों व स्वार्थों के बारे में ही नहीं सोचना चाहिए, बल्कि उस व्यापक समाज के हित के बारे में सोचना चाहिए, जिसके वे एक भाग हैं। इसमें प्रतियोगिता की सामाजिक प्रवषत्ति नहीं दिखाई देती, बल्कि सहयोग की प्रवषत्ति दिखाई देती है। इस प्रकार से ष्वादष परिवार है, जिसकी विषेशता प्रेम और सहयोग की प्रवषत्ति दिई देती है। इस प्रकार से ष्वादष परिवार है, जिसकी विषेशता प्रेम और सहयोग है। इसका ष्प्रतिवादष बुर्जुआ समाज है, जिसका आध र प्रतियोगिता है। ष्संष्लेशणष जिसमें ष्वादष व ष्प्रतिवादष दोनों के सद्गुण हैं, राज्य है। इस प्रकार. राज्य में परिवार की एकता व बुर्जुआ समाज की प्रतिस्पर्द्धा दोनों है। ऐसा इस कारण से है, क्योंकि यह श्रेश्ठ जीवधारी है। इस प्रकार हीगल ने राज्य को संघर्श का परिणाम माना। उसके मतानुसार द्वन्द्वात्मक विकास की चरम सीमा राज्य है तथा विकासवादी प्रक्रिय में राज्य से उच्चतर व अधिक पूर्ण कोई नहीं है। हीगल के भाब्दों में, श्इतिहास में राज्य ही व्यक्ति है और आत्मकथा में जो स्थान व्यक्ति का होता है. इतिहास में वही स्थान राज्य का है

राज्य का स्वरूपः राज्य साध्य तथा व्यक्ति साधन

राज्य की बहुत–सी विषेशताएँ हैं। यह आत्मा के अधिकतम विकास का प्रतीक हैं। इसके आगे अब कोई विकास नहीं होता। यह प थ्वी पर दैवी विचार के रूप में है। यह भी कहा जा सकता है कि, श्राज्य प थ्वी पर ईश्वर का पदार्पण हैश राज्य एक स्थायी संस्था हैं जो अपने नैतिक गुणों के कारण व्यक्तियों के भाग्य की सच्ची निर्वाचिका है। राज्य एक विकसित संस्था है जो अपने विकास के प्रत्येक चरण में मानव की विवेकषीलता के स्तर को प्रकट करती है। हीगल मानता है कि राज्य स्वयं में साध्य है । यह पूर्ण है। अतः अपने समस्त विभिन्न भागों में से श्रेश्ठ और व्यापक है। व्यक्तियों का जो कुछ महत्व है, वह राज्य के

कारण है। वह लिखता है कि व्यक्ति श्व्यक्ति का जो भी सत्य है या जो भी आध्यात्मिक यथार्थता उसके पास है, वह राज्य के ही कारण है।श व्यक्ति को पूर्ण राज्य के अधीन रहना चाहिए। इसा व्यक्ति पर अधिकतम अधिकार है जिनका उच्चतम कर्त्तव्य राज्य से मर्यादित नहीं होता है, क्योंकि वह स्वयं नैतिकता का प्रतीक, निर्माता व भण्डार है। राज्य यह निष्चित करता है कि उसके व्यक्तिगत नागरिकों के लिए नैतिकता का क्या आदर्ष व स्तर होगा । सच तो यह है कि राज्य ही सबसे भली प्रकार सामाजिक रीति–रिवाजों व प्रथाओं की व्याख्या कर सकता है। राज्य ही यह बात बता सकता है कि हमारे लिए क्या करना उचित है और क्या अनुचित । साधारण भाशा में यह कहा जा सकता है कि राज्य जो भी करता है, वह सही होता है। प्रो० मैक्गबर्न के भाब्दों में, "पुराने उदारवादी इस बात पर जोर देते थे कि राज्य अपने साध्य नहीं बल्कि एक साधन मात्र हैं, और साध्य है जनता की भलाई और कल्याण । इसके विपरीत, हीगल ने यह घोशित किया कि राज्य स्वयं साध्य है और व्यक्ति एक साध्य के लिए साधनमात्र है । वह साध्य है उस राज्य का एक ऐश्वर्य, जिसके कि वह घटक हों ।.

हीगल का कहना है कि जहाँ तक राज्य का अन्य राज्यों के साथ सम्बन्ध का प्रष्न उठता है, राज्य के लिए सबसे महत्वपूर्ण बात अपने अस्तित्व को बनाये रखना है। प्रत्येक राज्य सर्वप्रथम अपनी स्वतंत्रता को महत्व देता है। वह अपने स्वार्थ का रक्षक है। वह जो काम करता है, इसी स्वार्थ भावना से प्रेरित होकर करता है। वह लिखता है कि, "राज्य एक आत्म–निष्चित पूर्ण मस्तिश्क है जो कि अच्छे या बुरे, निम्नकोटि या धोखाधड़ी के भावात्मक नियमों को स्वीकार नहीं करता है।

हींगल ने राज्य की नैतिकता को व्यक्ति की नैतिकता से श्रेश्ठतर बतलाया है। उसने यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया कि राज्य की नैतिकता व्यक्ति की नैतिकता से कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण है। हीगल ने राज्य की अग्रलिखित विषेशताएँ बताई हैं–

(1) राज्य देवी सत्ता है – हीगल के अनुसार, यद्यपि राज्य की उत्पत्ति द्वन्द्ववाद की प्रक्रिया से क्रमिक विकास के फलस्वरूप हुई है, तथापि इस विकास क्रम में देवी चेतना कार्य करती है। राज्य के रूप में उस दैवी चेतना को पूर्णता प्राप्त हो जाती है। हीगल ने राज्य को पथ्वी पर ईश्वर माना है

(2) राज्य का सावयव रूप– हीगल ने राज्य को सावयव माना है। राज्य भारीर है। व्यक्ति तथा समुदाय उसके अंग हैं। जिस प्रकार बिना भारीर के अंगों का महत्व नहीं, उसी प्रकार बिना राज्य के व्यक्ति व समुदायों का महत्व नहीं ।

(3) राज्य साध्य हैं–– हीगल के अनुसार, राज्य साध्य है और व्यक्ति साधन । इसलिए व्यक्तियों को अपना सर्वस्य राज्य के लिए समर्पित कर देना चाहिए।

(4) राज्य और व्यक्ति में विरोध नही होगल राज्य और व्यक्तियों में कोई विरोध नहीं मानता, क्योंकि दोनों के हित एक हैं। हीगल कहता है कि राज्य हमारी सच्ची निश्पक्ष एवं निःस्वार्थ सामान्य इच्छा का प्रतिनिधित्व करता है। अतः राज्य और व्यक्ति के हित में किसी पारस्परिक विरोध

की कल्पना नही की जा सकती ।

(5) राज्य सर्वषक्तिमान हीगल के अनुसार राज्य प थ्वी पर ईश्वर का अवतार होने के कारण सर्वषक्तिमान है। राज्य से ऊपर कोई संस्था नहीं हो सकती ।

(6) राज्य नैतिक बन्धनों से मुक्त– राज्य पर वे नैतिक बन्धन लागू नहीं किये जा सकते, जो व्यक्ति पर लागू होते हैं, क्योंकि राज्य नैतिक बन्धनों से मुक्त है।

हीगलयह भी मानता है कि व्यक्ति की भांति राज्य का भी अपना व्यक्तित्व व इच्छा है। इस इच्छा को वह सामान्य इच्छा के नाम से पुकारता है।

सामान्य इच्छा का सिद्धान्त

हींगल का कहना है कि मनुश्य की दो प्रकार की इच्छाएँ होती हैं, एक तो उसके अन्तःकरण की इच्छा है जो सदैव पवित्र निस्वार्थ होती है और दूसरी उसकी साधारण इच्छा है जो बाहर परिस्थितियों से प्रभावित होती है। इस कारण यह स्वार्थ भावना से प्रेरित रहती है। जोड के अनुसार, हीगल की सामान्य इच्छा सभी लोगों को अच्छी इच्छाओं के निचोड़ से सत के समान है। जब कोई व्यक्ति चोरी करता है तब राज्य उसे दंण्ड देकर उसकी इच्छा को ही लागू करता है । राज्य सामान्य इच्छा का एकमात्र प्रतिनिधि है ।

संक्षेप में, हीगल ने हर प्रकार के तर्क द्वारा यह सिद्ध किया कि राज्य श्रेश्ठ है और व्यक्ति किसी भी दषा में उसकी अवज्ञा नहीं कर सकता ।

• हीगल के राज्य सम्बन्धी विचारों की आलोचना– हीगल के राज्य के दर्षन सम्बन्धी विचारों की कड़ी आलोचना की गई है–

(1) हीगल का कहना है कि विवेक ही वास्तविक है और वास्तविक ही विवेकपूर्ण है, गलत है। हत्या करना, चोरी करना वास्तविकता होता है, परन्तु उसे कदापि विवेकपूर्ण नहीं कहा जा सकता है । (2) हीगल का यह कहना कि राज्य संघर्श की उपज है, गलत है। राज्य भानैः–षनैः विकास से बना है और इसमें संघर्श भी एक तत्व रहा है। साथ ही रत्त सम्बन्ध, धर्म, मनुश्य की आवष्यकताओं, आदि ने राज्य के विकास में योग दिया। वस्तुतः हीगल ने तो भावित सिद्धान्त का समर्थन किया। (3) हीगल कहता है कि राज्य पूर्ण है। अब आगे कोई विकास नही होगा। यह बात राज्य को ईश्वर तुल्य ठहरने के लिए हीं गई है। वास्तविकता यह है कि मनुश्य और उसकी संस्थाएँ निरन्तर विकास की अवस्था में है। मनुश्य और उसकी संस्थाएँ समय व आवष्यकता के अनुसार, रूप ग्रहण करती है। (4) हीगल का सामान्य इच्छा का सिद्धान्त दोशपूर्ण है। मनुश्य की दो प्रकार की इच्छाओं में भेद करना कठिन है। आत्मा की आवाज व बाहरी आवष्यकताओं का परस्पर विरोध है भी तो उसे पहचानना मुष्किल है। हीगल ने इस सिद्धान्त का केवल इसलिए समर्थन किया कि राज्य के हर कार्य को व्यक्तियों की इच्छा का ही प्रतीक ठहराया जा सके। (5) हीगल ने अधिनायकवाद व निरंकुषवाद का समर्थन किया। उसका राज्य आत्याचारी है। उसमें व्यक्तियों को कोई स्वतन्त्रता प्राप्त नहीं है। ऐसे राज्य में व्यक्ति का अस्तित्व ही समाप्त हो जाता है। (6) हीगल ने राज्य को साध्य व व्यक्ति को साधन माना । राज्य के लिए व्यक्ति है, न कि व्यक्ति के लिए राज्य । यह तर्क भी उसकी निरंकुश भाक्ति का परिचायक है। वास्तव में यह दृश्टिकोण गलत हैं। राज्य व्यक्तियों के कल्याण के लिए बनाया गया है।

व्यक्ति अपने नाना प्रकार के हितों की पूर्ति के लिए राज्य का निर्माण करते है। राज्य व्यक्तियों के व्यक्तित्व के विकास व आवष्यकताओं की पूर्ति का साधन है।

हीगल के दर्षन में निरंकुषवाद को बढ़ावा दिया। बीसवीं सदी में फासीवाद व नाजीवाद ने हीगल के विचारों को ही अपनाया और विश्व को युद्धों में झोंक दिया।

हीगल के युद्ध सम्बन्धी विचार– हीगल ने युद्ध को पूरी तरह से बुराई नहीं माना है। युद्ध एक गुणकारी क्रिया है। हींगल युद्ध को मानव जाति की अनिवार्य आवष्यकता मानता था । वेपर के भाब्दों में, ”षान्ति मनुश्य के चरित्र को भ्रश्ट करने वाली और स्थायी भान्ति पूर्णतया भ्रश्ट करने वाली होती है।श वह लिखता है कि, श्युद्ध मानव के स्वार्थी अहं का नाष करती हैऔर इस प्रकार मानव जाति को पतन के मार्ग से बचाकर उसमें क्रियाषीलता का संचारकरता कृकृकृकृकृ किस प्रकार समुद्र में भाान्ति के समय उत्पन्न होने वाली गन्दगी प्रबलतूफान से नश्ट हो जाती हैं, उसी प्रकार मानव समाज की गन्दगी तथा भ्रश्टाचार की षुद्धियुद्ध से हो जाती है ।

हौगल का विचार है कि युद्ध लोगों को उत्साहित रखता है और उनमें नये उत्साह व जीवन का संचार करता है। व्यक्ति के लिए युद्ध का महत्व उतना ही है, जितना कि पानी के तालाब के लिए हवा का होना। हवा के चलने से पानी सड़ने नहीं पाता। इस प्रकार से युद्ध के होने से लोगों में उत्साह बना रहता है और वे जड़ नहीं हो पाते। हीगल के अनुसार, सफल युद्धों ने नागरिक विद्रोहों को रोकर राज्य की आन्तरिक भाक्ति को संगठित और बलषाली बनाया है। युद्ध मनुश्यों में विभिन्न सद्गुणों, जैसे– साहस, देषभक्ति, एकता भारवीरता, बलिदार आदि का विकास करता है। बन्दूक और बारूद सभ्यता को उन्नत करने वाले आविश्कारक थे ।

हीगल के अनुसार, युद्ध व्यक्ति के स्वार्थी अहं का नाष करता है और इस प्रकार मानव जाति का पतन के मार्ग से बचाकर क्रियाषील करता है। उसके अनुसार, युद्ध स्वयं एक नैतिक कार्य है । भान्ति भ्रश्टाचार फैलाती है और अनन्त भान्ति अनन्त भ्रश्टाचार फैलायेगी । युद्ध का महत्व यह भी है कि इसके द्वारा जनता का नैतिक स्वास्थ्य सुरक्षित रहता है।

हीगल युद्ध का समर्थन मुख्यतः दो आधारों पर करता है

1) वह यह मानता है कि राज्य की आत्मा विश्व आत्मा में विलीन होना चाहती है, जो राज्य युद्ध के द्वारा विश्व – आत्मा को प्राप्त करने के लिए युद्ध का लड़ा जाना आवष्यक है।

(2) युद्ध के कुछ आन्तरिक लाभ भी है– () इससे लोगों में उत्साह पैदा होता हैं। (इ) इससे लोगों में आत्मनिर्भरता व विश्वास पैदा होता है। (ब) लोगों में एकता की भावना पैदा होती है। (क) लोगों में एकता की भावना से राश्ट्र की एकता को बढ़ावा मिलता है। (म) युद्ध में विजय मिलने से राश्ट्र की की प्रतिश्ठा बढ़ती है। (प) युद्ध में विजय मिलने से क्षेत्र का विस्तार होगा।

इस प्रकार से हीगल युद्ध का समर्थन करता है, परन्तु वह यह भी कहता है कि भाासक को युद्ध सोच–समझकर करना चाहिए। यदि राज्य की युद्ध में हार हो जाती है तो राजनीतिक अस्थिरता पैदा हो जाती है। इसलिए युद्ध में हार नहीं होनी चाहिए।

स्वतंत्रता (थ्तममकवउ) हीगंल सनसत्ताधारी राज्य का समर्थन करता है। वह दैवीय है और स्वयं में साध्य है । वह अपने निर्माणात्मक अंगों से श्रेश्ठ है तथा नैतिकता को तय करने वाला है। प्रष्न यह है कि क्या ऐसे राज्य में व्यक्ति को स्वतंत्रता प्राप्त होती है। बगैर स्वतंत्रता के व्यक्ति दास बना रहता है, परन्तु स्वतंत्रता क्या है? हीगल के विचार में पूर्ण राज्य की पूर्ण आषाओं का पालन ही पूर्ण स्वतंत्रता है। हीगल के भाब्दों में, श्एक पूर्ण राज्य वस्तुतः वास्तविक स्वतंत्रता का प्रतिरूप होता है और राज्य के अतिरिक्त अन्य कोई भी वस्तु स्वतंत्रता को वास्तविक रूप प्रदान नहीं कर सकती ।

इसका मतलब यह है कि हर राज्य पूर्ण है और उसकी जो भी आज्ञा होती है, वह पूर्ण होती है । यदि व्यक्ति उसका पालन करता रहे तो वह स्वतंत्र बना रहता है। संक्षेप में वही व्यक्ति स्वतंत्र है, जो राज्य की हर आज्ञा का पालन करता है। वह व्यक्ति को राज्य के विरूद्ध विद्रोह का अधिकार प्रदान नहीं करता है। वास्तव में हीगल ने स्वतंत्रता का अर्थ आज्ञापालन से लिया है, जो गलत है। मनुश्य की सारी स्वतंत्रता छीन लेता है और उसे गुलाम बना देता है। ऐसी स्वतंत्रता को स्वतंत्रता नहीं कहा जा सकता है।

सेबाइन हीगल के इन विचारों के सम्बन्ध में कहते हैं कि, श्हीगल का मस्तिश्क जर्मनी के एकीकरण के प्रष्न से चिन्तित था, अतः उसने व्यक्ति को राज्य में विलीन करते समय कुछ भी हिचकिचाहट नहीं दिखाई। वह राज्य की वेदी पर व्यक्ति का बलिदान कर देता है।

हीगल के राजनीति सम्बन्धी विचार––– हींगल के राज्य सम्बन्धी विचारों का लोकतंत्र व स्वतंत्रता समर्थकों ने स्वागत नहीं किया है। विषेश तौर से इंगलैण्ड के लोगों ने उसके विचारों की प्रषंसा नहीं की। हीगल के विचार इंगलैण्ड की परम्परागत विषेशता व उसके राजनीतिक विचारों से मेल नहीं खाते थे । यही कारण है कि इंगलैण्ड में हीगल का प्रभाव नहीं पड़ा। उसके निरंकुषवादी विचार व्यक्ति की स्वतंत्रता के लिए खतरनाक थे। उसने निरंकुषता का समर्थन किया और व्यक्ति के अस्तित्व को ही नश्ट कर दिया, परन्तु इसका मतलब यह हनी है कि हीगल के विचारों में कोई गुण ही नहीं थे। सर्वप्रथम तो यह मानना पड़ेगा कि हीगल का दर्षन स्थिर नहीं है। यह राज्य को एक सम्बद्ध संस्था के रूप में जो कि अपने प्रत्येक बौद्धिक अवस्था के चरण से व्यक्ति की उन्नति प्रदर्षित करती है, देखता है। किसी भी व्यक्ति के लिए यह समस्यसा पैदा हो जाती है कि हीगंल के दर्षन को रूढ़िवादी कहें या प्रगतिषील, क्योंकि एक ओर वह रूढ़िवादिता का परिचय देता है तो दूसरी ओर विकास के सिद्धान्त का भी समर्थन करता है। यह मानना होगा कि उसका राज्य के विकास का सिद्धान्त प्रषंसा के योग्य है।

हीगल का सिद्धान्त इसलिए भी महत्वपूर्ण है कि यह मनुश्य की समाज पर निर्भरता पर जोर देता है । व्यक्तिवादी व्यक्ति को इकाई के रूप में स्वीकार करते हैं। इससे समाज कमजोर हो जाता है । होगल यह बात स्पश्ट कर देता है कि व्यक्ति का महत्व सिर्फ इसलिए है कि वह समाज का अंग है और इसी में रहकर उसकी तरक्की हो सकती है। वह स्वतंत्रता को भी समाज की देन बताता है और कहता है कि इसका समाज के कल्याण में ही इस्तेमाल किया जा सकता है। उसने यह भी बताया कि राज्य केवल भौतिक संस्था ही नहीं

है । यह लोगों की आध्यात्मिक उन्नति में भी सहायक है । हीगल राज्य को नैतिकता का प्रतीक मानता है। इसलिए उसके लिए राज्य एक आध्यात्मिक संस्था है। राज्य का काम लोगों को नैतिक उच्चता प्रदान करना है

परन्तु यदि हीगल के दर्षन की प्रषंसा की जा सकती है तो उसके खिलाफ भी कहा जा सकता है। उसने द्वन्द्ववाद का प्रयोग नया नहीं किया और न ही उचित रूप से किया है। एक स्थान पर वह कहता है कि, श्विज्ञान का लख्य सत्य का ज्ञान कराना है। साथ ही वह यह भी कहता है. कि राज्य कार्य उस सत्य की रक्षा करना होना चाहिए।श यह कथन बड़ा ही उदार लगता है, परन्तु कुछ समय बाद हीगल का दूसरा कथन हमारे सामने आता है जिसकी अपनी विषेशता है। वह कहता है कि स्वनिष्चितता ही स्वतन्त्रता का सार है। इस प्रकार से आत्मा का विकास ही स्वतन्त्रता का विकास है। अतः श्एक पूर्ण राज्य ही वास्तव में स्वतन्त्र राज्य होता है और जो नागरिक इस पूर्ण राज्य के पूर्ण कानूनों का पूर्ण पालन करता है, वह ही पूर्ण रूप से स्वतन्त्र है ।

हीगल यह भी बताता है कि राज्य व्यक्ति के यथार्थ व्यक्तित्व का संरक्षक है।

उसके अनुसार, मनुश्य समाज की सदस्यता द्वारा जिस स्वतन्त्रता का उपभोग करते हैं, वह उस स्वतन्त्रता से अधिक सत्य है, जिसका उन्होंने अपनी कल्पित विधिहीन प्राकृतिक अवस्था को त्याग कर समाज में प्रवेष करते समय, परित्याग किया था। यह स्वतन्त्रता जो केवल समाज में ही सम्भव है, व्यक्ति के हृदय में स्थित स्वतन्त्रता की उदात्त धारणा का बाह्य जगत में प्रत्यक्षीकरण है। यह धारणा समाज के बगैर अप्रत्यक्ष ही रहती है। हीगल की भाशा में राज्य में व्यक्ति ने अपने बाह्य रूप को पूर्णतः आध्यात्मिक चिन्तनमयं स्तर तक उन्नत कर लिया है। यह यथार्थ स्वतन्त्रता जो समाज में स्थित है तथा इसका फल है, सक्रिय और विकासषील है। यह स्वतन्त्रता प्रथम विधि में दूसरे आन्तरिक नैतिकता के नियम में, कि जो व्यक्ति समाज से प्राप्त करता है तथा तीसरे सामाजिक संस्थाओं तथा प्रभावों की सम्पूर्ण प्रणाली में जो व्यक्तित्व का निर्माण करती है, प्रकट होती है।

इस तरह से राज्य में व्यक्ति के लिए ऐसी स्वतन्त्रता का उपभोग सम्भव हो जाता है जो उसे अन्य किसी भी प्रकार प्राप्त नहीं हो सकती थी । हीगल के भाब्दों में, श्मात्र राज्य ही स्वतन्त्रता का वास्तवीकरण है।श राज व्यक्तियों को स्वतन्त्र बनाने के लिए आवष्यक है, परन्तु राज्य को पूर्ण बनाने के लिए स्वतन्त्र व्यक्ति भी आवष्यक है। यह ध्यान रहे कि हीगल की स्वतन्त्रता आज्ञापालन का ही दूसरा रूप है।

हीगल कहता है कि सत्य क्या है, यह राज्य ही तय करता है। इससे अधिक तानाषाही की बात क्या होगी । यदि राज्य अच्छे को बुरा और बुरे को अच्छा कहता है तो हीगल के विचार में राज्य की बात माननी होगी ।

हीगल की स्वतन्त्रता सम्बन्धी धारणा भी काल्पनिक है। इसे स्वतन्त्रता नहीं, दासता कहा जा सकता है। हीगल से जो लोग वास्तव में प्रभावित हुए, वे हिटलर जैसे तानाषाह थे। इसी से उसके विचारों का सार मालूम हो जाता है ।

हीगल के भासन सम्बन्धी विचार– हींगल लोकतंत्र का विरोधी तथा राजतंत्र का समर्थक था। अपनी द्वन्द्वात्मक पद्धति के आधार पर वह बताता है कि निरंकुषतंत्र वाद, प्रजातंत्र

प्रतिवाद तथा दोनों के द्वन्द्व व सत्यांषों से मिलकर संवैधानिक राजतंत्र अर्थात सम्वाद है। यह निरंकुषतंत्र व प्रजातंत्र से अधिक विकसित है। किन्तु हीगल का आदर्ष एषिया का राजतंत्र था जिसमें राजा मंत्रियों के परामर्ष से कार्य करता था। मंत्रियों की नियुक्ति व पदच्युति राजा की इच्छा पर निर्भर करती थी। . हीगल के संवैधानिक राजतंत्र में राजा को प्रषासकीय, वित्तीय तथा विधायी भाक्तियाँ प्राप्त थी ।

हीगल सरकार के तीन अंग बताता है— 1— व्यवस्थापिका, 2—— कार्यपालिका, 3— राजपद । वह न्याय पालिका को कार्यपालिका का ही एक अंग मानता है तथा राजपद को राज्य की सर्वोच्च संस्था तथा व्यवस्थापिका तथा कार्यपालिका में समन्वय स्थापित करने वाली इकाई के रूप में देखता हैं ।

हीगल व्यवस्थापिका की तुलना में कार्यपालिका को बहुत अधिक महत्व प्रदान करता है, क्योंकि भाासन संचालन की मुख्य भाक्ति उसी के हाथों में केन्द्रित होती है। वह व्यवस्थापिका को कायपालिका पर नियंत्रण रखने की कोई भाक्ति प्रदान नहीं करता है। उसकी मान्यता थी कि श्राज्य के संगठन और आवष्यकताओं को समझने में उच्चतम सरकारी अधिकारियों में अधिक गम्भीर और व्यापक दृश्टि होती है ।श अतः वे व्यवस्थापिका की सहायता के बिना भी अच्छी तरह से भासन का संचालन करने में समर्थ होते हैं। इसलिए सामान्यतया कानून निर्माण का कार्य राज्य कर्मचारियों के हाथ में ही केन्द्रित होना चाहिए। इस दृश्टि से व्यवस्थापिका के दो कार्य हैं—

(1) राज्य कर्मचारियों के सम्मुख समाज की ऐसी माँगों को प्रस्तुत करना जो उनकी दृष्टि में न आये। (2) भाासन की जनता द्वारा की जाने वाली आलोचनाओं की ओर राज्य कर्मचारियों का ध्यान आकर्शित करना ।

भोश सभी कार्य राज्य कर्मचारियों के लिए छोड़ देने चाहिए ।

हीगल द्विसदनात्मक व्यवस्थापिका का समर्थक था । उसका विचार है कि प्रथम सदन तो ब्रिटिष लॉर्ड सभा की भांति कुलीनतंत्रीय हो तथा द्वितीय सदन निर्वाचित हो। उसका मत था कि मताधिकार बहुत थोड़े से ही षिक्षित और धनी व्यक्तियों को मिलना चाहिए। वह प्रादेषिक प्रतिनिधि त्व के विरूद्ध था । वह प्रतिनिधित्व का सही आधार विभिन्न व्यवसायों को मानता था। उसके अनुसार व्यवस्थापिका में विभिन्न वर्गों और नियमों के प्रतिनिधि होने चाहिए। हीगल की यह व्यवस्था मध् ययुगीन ब्रिटिष संसद की व्यवस्था से मिलती है। मध्य युग में ब्रिटिष संसद के उच्च सदन लॉर्ड सभा में बड़े भूमिपति और पादरी सदस्य होते थे तथा निम्न कॉमन सभा में नगरों के व्यापारी अन्य नगरवासी तथा जिलों व देहातों में रहने वाले ष्नाइटष् सम्मिलित होते थे। इस प्रकार हीगल पूर्णतः सत्तावादी भासन में विश्वास करता था।

हींगल द्वारा प्रस्तुत इस भासन व्यवस्था को बाद में उसके मानस पुत्र इटली के तानाषाह मुसोलिनी द्वारा अपने फासीवादी राज्य की रचना में प्रयुक्त किया था ।

अभ्यास—— प्रष्न

1. हीगल के जीवन का संक्षिप्त परिचय दें द्य

2. हींगल के अनुसार अध्यात्मिक द्वन्द्ववाद क्या है? व्याख्या करें।

3. हीगल के राज्य सम्बन्धी विचार की विवेचना करें।

4. हींगल के अनुसार युद्ध बुरा नहीं बल्कि एक गुणकारी प्रक्रिया है। समीक्षा करें।

5. भाासन सम्बन्धी हीगल के राजतंत्र समर्थक विचारों पर टिप्पणी लिखें।

इकाई – 14

टी०एच० ग्रीन (**T-H- Green**) (1836–1882)

टी०एच० ग्रीन का जनम यार्कषायर के रेक्टर के यहाँ 6 अप्रैल, 1836 में हुआ। उसने रगबी

व बेलिमोल कॉलिज ऑक्सफोर्ड में षिक्षा प्राप्त की। सन् 1860 में वह बेलिमोल का फैलो और सन् 1866 में ट्यूटर निर्वाचित हुआ। यह पहला साधारण व्यक्ति था, जो इस पद पर चुना गया था। एक दार्षनिक के अलावा ग्रीन राजनीतिक कार्यकर्ता थी था । उसने अपने समय की राजनीति में भाग लिया। वह कई साल तक बकिंघम नगर की षिक्षा संचालन समिति का सक्रिय सदस्य रहा। सन् 1878 में वह नैतिक दर्षन का ऑक्सफोर्ड विश्वविद्यालय में प्रोफेसर हो गया। उनका 46 वर्श की आयु में देहान्त हो गया । ग्रीन के दर्षन पर मुख्यतः तीन बातों का प्रभाव पड़ा था – (1) यूनानी विचारकों प्लेटो व अरस्तू का जिससे उसने यह विचार ग्रहण किया कि मनुश्य एक राजनीतिक प्राणी है। (2) दूसरा स्त्रोत जर्मन आदर्षवाद था। ग्रीन ने ब्राह्मण सम्बन्धी विचार हीगल से लिया था, लेकिन नैतिक व राजनीतिक क्षेत्र में ग्रीन के विचार हींगल की अपेक्षा काण्ट के अधिक निकट हैं। (3) तीसरा स्त्रोत परम्परा विरोधी लोगों के सिद्धान्त थे । परम्परा विरोधी लोग नैतिकता पर बड़ा जो देते हैं।

ग्रीन की प्रमुख रचनायें – ग्रीन की प्रमुख रचनायें निम्नलिखित हैं

1. उदार व्यवस्थापन और अनुबन्ध की स्वतन्त्रता । 2. राजनीतिक दायित्व के सिद्धान्त पर व्याख्यान । 3. इंग्लैण्ड की क्रान्ति पर व्याख्यान । 4. नैतिकता का प्राक्कथन ।

इनमें से द्वितीय रचना का सर्वाधिक महत्व है।

आध्यात्मिक विचार

शराज्य का आधार इच्छा नहीं भाक्ति हैश

अंग्रेजी आदर्षवादी विचारक ग्रीन का विचार है कि, शराज्य का आधार भाक्ति नहीं, इच्छा है।श व्यक्तिवादी साम्यवादी तथा अराजकतावादी राज्य का मात्र भाक्ति का प्रतीक मानते हैं, किन्तु ग्रीन उनके विचारों से सहमत नहीं है। ग्रीन कहता है कि जो राज्य जनता में भय उत्पन्न करके अपनी– आज्ञाओं का पालन कराता है, वह राजय स्थायी नहीं हो सकता ।

ग्रीन के अनुसार, राज्य का उदय नागरिकों के अधिकारों की रक्षा के लिए होता है। सभी व्यक्तियों की यह सामान्य इच्छा है कि अधिकारों की रक्षा करने वाली कोई संस्था होनी चाहिए और इस सामान्य इच्छा के परिणामस्वरूप राज्य का उदय होता है। अतः राज्य का आधार यही सामान्य इच्छा है !

यद्यपि राज्य कभी–कभी हमारे विरूद्ध बल का प्रयोग करता है, परन्तु वह सब हमारी इच्छा से ही करता है। जैसे मनुश्य की दो प्रकार की इच्छाएँ होती होती हैं – यथार्थ इच्छा और आदर्ष इच्छा द्य प्रथार्थ इच्छा स्वार्थपूर्ण होती है और आदर्ष इच्छाओं का योग है। यदि कोई मनुश्य अपनी यथार्थ इच्छा से प्रेरित होकर दूसरों की सम्पत्ति चुराता है तो वस्तुतः वह स्वयं

अपनी आदर्श नैतिक इच्छा और समाज की सामान्य इच्छा के प्रतिकूल कार्य करता है। ऐसी स्थिति में राज्य पुलिस और न्यायालय की व्यवस्था के आधार पर इस असामाजिक कार्य को जो रोकने का प्रचलन करता है तो

राज्य के इस कार्य में उस चोर की आदर्ष इच्छा सम्मिलित है। अतः पुलिस और न्यायालय उसे दण्ड देते हैं तो वे भाक्ति का नहीं, वरन् समाज की सामान्य इच्छा तथा उस व्यक्ति की आदर्ष नैतिक इच्छा का प्रतिनिधित्व करते हैं। इसलिए ग्रीन कहता है कि राज्य का आधार भाक्ति नहीं, वरन् इच्छा है।

ष्ग्रीन के राज्य का आधार भाश्वत चेतना है जो मानव चेतना के सामाजिक अच्छाई को प्रदान करती है। इसी को पूर्ण बनाने के लिए मानव चेतना प्रयत्नषील रहती है। उच्च वर्ग के समाजों में उसने यह पूर्णता आंषिक रूप से प्राप्त भी कर ली है। इसलिए मानव चेतना के परिणामस्वरूप ही राज्य का जन्म होता है बार्कर ने लिखा है, श्मानव चेतना से स्वतन्त्रता पैदा होती है, स्वतन्त्रता में अधिकार निहित होते हैं और अधिकार राज्य की माँग करते हैं।श स्वतन्त्रता से षुरू कर हम यह देखते हैं कि ग्रीन अपने विचार काण्ट की स्वतन्त्र नैतिक इच्छा, जिसकी वजह से मनुश्य स्वयं को साध्य समझता है, से ग्रहण करता है। समाज की अच्छी वस्तु अच्छी इच्छा है। राज्य को इसकी स्वनिष्चितता को न तो दमनकारी हस्तक्षेप से और न पैतृक सरकार से रोकना चाहिए। राज्य को एक काम यह जरूर करना चाहिए कि व उन तमाम बाधाओं को दूर करें जो व्यक्ति के विकास में बाधक है।

इसलिए स्वतन्त्रता कोई नकारात्मक प्रतिबन्ध के अभाव का नाम नहीं हैं जैसे कि सुन्दरता के अभाव को ही कुरूप नहीं कहा जा सकता है। वास्तव में स्वतन्त्रता एक सकारात्मक व्यक्ति है, जिसके द्वारा व्यक्तियों को ऐसे कार्यों को करने की आज्ञा रहती है, जो करनेया उपभाग करने लायक हों ।

चूँकि स्वतन्त्रता का निवास श्रेश्ठ इच्छा (त्मंस ूपसस) में होता है। यह कोई ऐसी भाक्ति नहीं हैं कि किसी भी य सभी कार्यों के सम्बन्ध में हो, बल्कि यह उन्हीं विशयों में होती है जिनको कि श्रेश्ठ इच्छा अपने सामने प्रस्तुत करती है। संक्षेप में, स्वतन्त्रताओं की दो विषेशताएँ होती है – कुछ कार्य करने की स्वतन्त्रता, न कि किसी के लिए कुछ किए जाने की स्वतन्त्रता । यह निष्चित होती है और ऐसे कार्य करने की इजाजत नहीं देती है, जो करने लायक नहीं हैं।

इस तरह से आत्म––चेतना स्वतन्त्रता को जन्म देती है। आत्म–चेतना केवल अपने ही बारे में चेतना नहीं है, बल्कि दूसरों के विशय में भी उतनी ही चेतना है। ऐसी स्थितियों में स्वतन्त्रता का का अर्थ उन कार्यों के करने से होगा जो कि हमें दूसरों के साथ रहते हुए करने चाहिए। ग्रीन का कहना था कि आतम केवल स्वयं की ही भलाई नहीं करता, वह अपने साथ दूसरों का भी भला चाहता है । समाज इसी भलाई की भावना से संगठित होता है। इसी के साथ हम ग्रीन के अधिकारों के विचार पर आ जाते हैं जो इसी सामाजिक अच्छाई की भावना पर आधारित होते हैं। अधिकारों के अन्तर्गत प्रत्येक व्यक्ति अपने अन्य साथियों के अस्तित्व को स्वीकार कर आदर्ष वस्तुओं को प्राप्त करने का सबको समान अवसर मिलना चाहिए। इन्हीं मोंगों को अधिकार कहते हैं। सामाजिक मान्यता इन मांगों को अधिकार का रूप देती है। ग्रीन के विचार में अधिकारों के दो पहलू हैं। एक ओर तो

अधिकार व्यक्ति की आत्म––चेतना से उत्पन्न एक माँग हैं, दूसरी ओर यह समाज द्वारा उस माँग की स्वीक ति है ।

अधिकार लागू किये जाने के लिए होते हैं। उन्हें सुरक्षा की जरूरत होती है। इसलिए एक ऐसी संस्था की आवष्यकता होती है जो अधिकारों को सुरक्षा प्रदान कर सके। यह कार्य राज्य ही कर सकता है। सर्वोच्च सत्ता जो भाक्ति का प्रयोग करती है, समाज में ही निहत होती है। दूसरे भाब्दों में, यह सामान्य चेतना में सामान्य उद्देष्य के लिए निहित होती है। अगर सामान्य चेतना की जगह सामान्य इच्छा भाब्द का प्रयोग करें तो सामान्य इच्छा प्रभु है।

राज्य का आधार ग्रीन के विचार में राज्य सामान्य उद्देष्यों की सामान्य चेतना का प्रतिफल है। इसकी विषेशता नैतिक प्रकृति है। नागरिकों पर भाक्ति का प्रयोग तभी किया जा सकता है, जबकि औचित्य सिद्ध किया जा सके। किसी भी समाज का राजनीतिक संगठन तब तक सम्भव नहीं है, जब तक कि उसके सदस्यों में चेतना थी। राजनीतिक इच्छा का तत्व मौजूद नहीं है। नागरिकों को यह समझना चाहिए कि राज्य का आदेषात्मक सत्ता का प्रयोग सामान्य हित के लिए हो रहा है। राज्य का सत्ता और नियमों के पालन का आधार और औचित्य इनके द्वारा सामान्य हितों की रक्षा करते हैं, बल्कि इसलिए कि अवज्ञा करने पर उन्हें दण्ड मिलेगा।

• नियम

कानून पालन की समस्या ग्रीन कहता है कि किसी भी आदर्ष राजनीतिक समाज में आज्ञापालन का आधार दण्ड का भय अथवा स्वभाव से आज्ञापालन के बजाये यह चेतना होनी चाहिये कि राज्य के नियम सामन्य हितों की रक्षा करते हों और उन्हें बढ़ावा देते हैं। सिर्फ उन्हीं राज्यों में, जिनकी नीति को आधार सामान्य हितों की व द्वि है। आज्ञापालन सक्रिय इच्छा पर आधारित है, लेकिन उन राज्यों में नहीं। राजय को नीति का उद्देष्य किसी राजा, अधिनायक या वर्ग से समाज के भाग की रक्षा करना है। आज्ञापालन का आधार दण्ड का भय होता है, जो निष्चय इच्छा के अस्तित्व को प्रदर्षित करता है !

ग्रीन, आस्टिन के प्रभुता के सिद्धान्त को जिसके अनुसार, राज्य की आज्ञा का पालन जनता दण्ड के भय अथवा स्वभाव से करती है, अस्वीकार करता है। अगर किसी समाज में नागरिकों को आचरण केवल भय के द्वारा ही निर्देषित होता है तो उसे हम वास्तविक राजनीतिक समाज नहीं कह सकते। कभी–कभी ऐसा हो सकता है कि थोड़े समय के लिए भाक्ति के अत्यधिक प्रयोग द्वारा तैमूर या चंगेज खाँ की तरह कोई विजेता जनता को भयभीत करके तक्षण एवं पूर्ण आज्ञापालन कराने में सफल हो जायें, लेकिन वह किसी भी वास्तविक राजनीतिक समाज में स्थायी रूप से निर्देषन नहीं कर सकता। इस तरह से ग्रीन आस्टिन की भाक्ति की प्रधानता देने के सिद्धान्त को अस्वीकार करता हैं। प्रत्येक राजनीतिक समाज में भावित का तत्व वास्तव में उपस्थित हैं और रहेगा भी, लेकिन भाक्ति का आधिक्य स्वेच्छा के तत्व को, जो कि किसी भी राजनीतिक समुदाय का वास्तविक आधार है, नश्ट कर देगा

भावित राज्य का आवष्यक गुण है। अधिकारों की व्यवस्था और राज्य के अस्तित्व को बनाये रखने के लिए वर्तमान परिस्थितियों में आवष्यक है, लेकिन इसका मतलब यह नहीं है कि

राज्य का आधार ही भावित है। भाक्ति का अधिकार व्यवस्था को बनाये रख सकती है, लेकिन अधिकारों को जन्म नहीं दे सकती हैं ।

इनका कुछ आधार ग्रीन के समान उद्देष्यों की समान चेतनाष या रूसो के अनुसार, ष्सामान्य इच्छा है। राज्य को बनाये रखने के लिए भावित जरूरी है। सांधारणतः अधिकांष नागरिक निश्क्रिय होते हैं। वे राज्य पर और राज्य के भाक्ति साधनों पर अपने अधिकारों और स्वाधीनता को बनाये रखने के लिए निर्भर रहते हैं । समाज–विरोधी व्यक्तियों से अपनी रक्षा–स्वयं, अपने प्रयत्नों से करने की अपेक्षा वे राज्य से रक्षा के लिए प्रार्थना करते हैं । इसी तरह से अगर नागरिकों का बड़ा समूह राज्य से रक्षा के लिए प्रार्थना करते हैं। इसी तरह अगर नागरिकों का बड़ा समूह राज्य के किसी कानून अथवा आषा का चेतन यप से विरोध करता है तो राज्य की सम्पूर्ण भाक्ति के प्रयोग पर भी राज्य के लिए आज्ञा का पालन कराना व्यावहारिक रूप से असम्भव हो जाता है। कोई भी राज्य अपने समस्त या अधिकांष नागरिकों को मृत्युदण्ड नहीं दे सकता है। राज्य का विरोध चेतना, इच्छा अथवा इस विश्वास पर कि ऐसा करना नैतिक दृश्टि से उचित है, आधारित है तो भाक्ति अकेले ही राज्य को नहीं बनाये रख पायेगी ।

ग्रीन का कहना है कि स्वभाव से अज्ञापालन तभी तक होती है, जब तक कि प्रभु जनता के सामान्य हितार्थ कार्य करता है और परम्पराओं पर प्रहार नहीं करता है। इतिहास इस बात का साक्षी है कि निरंकुष सीमाएँ है और कोई भी भासन उन सीमाओं का अतिक्रमण नहीं कर सकता है। किसी समाज में अन्तिम भाक्ति नैतिक ही है।

प्रष्न यह उठता है कि किसी भी विषेश प्रष्न पर सामान्य चेतना क्या है? इसका पता कैसे लगायेंगें। केवल संख्या के द्वारा ही यह पता नहीं लगाया जा सकता । यह जरूरी नहीं है कि सबकी या बहुमत की इच्छा ही सही हो । बहुमत भी अत्याचारी हो सकता है। इसके लिए वह मनुश्य की इच्छाओं को दो हिस्सों में बाँटता है– वाह्य इच्छा (।बजनंस ूपसस) व आन्तरिक इच्छा (त्मंस ूपसस) द्य सामान्य इच्छा सामान्य लोगों की आन्तरिक इच्छा का योग है। यह श्रेश्ठ होती है। दूसरे भाब्दों में यह कहा जा सकता है कि राज्य सामान्य हितकी सामान्य चेतना को सर्वोत्तम रूप में अभिव्यक्त करता है। इसलिए राजय सर्वोच्च है। उसके निर्णय सबको मानने चाहिए। स्पश्ट है कि ग्रीन ने राज्य का आधार संघर्श नहीं माना, बल्कि इच्छा माना । ग्रीन इसकी पुश्टि निम्नलिखित आधारों पर करता है–

(1) यदि भाक्ति राज्य का आधार होता तो पुलिस व सेना राज्य की आज्ञा का पालन क्यों करते? (2) भाक्ति एक अस्थायी तत्व है। राज्य स्थायी संस्था है। अतः राज्य का आधार भाक्ति नहीं हो सकता । ग्रीन के अनुसार, श्राज्य का वास्तविक आंधार अधिकार भाक्ति ही हो सकता है। निराधार भाक्ति को अधिक से अधिक राज्य का अस्थायी आधार ही माना जा सकता है ।श रूसो भी कहता है कि, ''षक्तिषाली का अधिकार कोई महत्वपूर्ण अधिकार नहीं है।

भाक्ति तो भौतिकषक्ति है। मनुश्य को भाक्ति के सम्मुख विवषता के कारण या अधिक से अधिक चतुराई के कारण झुकना पड़ता है न कि अपनी इच्छा से ।श (3) इतिहास इस बात का साक्षी है कि फ्रांस में लुई भासन, सोवियत रूस में ज़ार भासन और भारत

में ब्रिटिष भाासन इसलिए समाप्त हो गया, क्योंकि वह भाक्ति पर आधारित था। (4) यदि राज्य का आधार भाक्ति होता तो यह कभी का समाप्त हो गया होता, परन्तु यह अभी तक है। अतः राज्य का आधार भाक्ति नहीं, वरन् इच्छा है । (5) राज्य के नागरिकों में पाई जाने वाली सहयोग, न्याय तथा ईमानदारी की भावनायें भी सिद्ध करती हैं कि राज्य का आधार इच्छा है।

आलोचना – (1) ग्रीन ने मानव इच्छा को दो भागों में बांटा है। यह विभेद प्रमणपूर्ण है। मनुश्य की आन्तरिक व बाहरी इच्छा के बीच स्पश्ट विभाजन नहीं किया जा सकता है। (2) यह कहना कि सामान्य इच्छा हमेषा जनहित में काम करती है, सही नहीं है। सामान्य व्यक्ति सामान्य इच्छा निर्देषों को मानने से बाध्य है, निरंकुषता का प्रतीक है। सामान्य इच्छा के प्रतिनिधि होने के कारण राज्य का विरोध नहीं किया जा सकता है। निरंकुश्वादी भी यही बात कहते हैं। (4) ग्रीन राज्य को आध यात्मिक उद्देष्य से संगठित आध्यात्मिक संस्था मानता है। वास्तव में राज्य एक भौतिक एवं कानूनी संस्था है । (5) राज्य का आधार इच्छा के साथ भौतिक बल भी है। षुरू में राज्य की स्थापना और विस्तार भौतिक बल द्वारा ही हुआ। राजा की भाक्ति कमजोर हो जाती थी तो उसका पतन हो जाता था। आज भी अनेक देषों में राश्ट्रीय एकता ताकत के बल पर कायम है।

इन आलोचनाओं के बावजूद भी यह कहा जा सकता है कि इस सिद्धान्त द्वारा ग्रीन ने राज्य के लिए एक भावी आदर्ष प्रस्तुत किया तथा प्रजातन्त्र तथा लोक– प्रभुत्व का प्रतिपादन किया । राज्य के कार्य

ग्रीन ने राज्य के कार्यों के बारे में जो विचार रखे हैं, वे मौलिक हैं। ग्रीन के विचार के बारे में डॉ० वार्कर कहता है, "राज्य का अन्तिम नैतिक मूल्य होता है और यह एक अत्यन्त गौरवपूर्ण मूल्य है । यह एक नैतिक प्राणी है, जिसे इसके नैतिक उद्देष्य ही जीवित रखते हैं ।

ग्रीन की राज्य सम्बन्धी धारणा असीमित राज्य ही नहीं है। वह राज्य को अन्दर व बाहर सीमित मानता है। ग्रीन का विश्वास था कि राज्य का उद्देष्य से प्रेरित होने चाहिए। ग्रीन का मत है कि राज्य का कार्य मनुश्य का नैतिक उत्थान करके उसे भाभ जीवन को व्यतीत कर सकने योग्य बनाना है। अतः राज्य को वे ही कार्य करने चाहिए, जो इस उद्देष्य की पूर्ति में सहायक हों । नैतिक उत्थान से उसका तात्पर्य व्यक्ति को ऐसी स्थिति में लाना है, जिससे वह स्वयं स्वतन्त्रतापूर्वक निश् रित कार्यों को दूसरों के प्रति कर्त्तव्यों की भावना से प्रेरित होकर करें। अर्थात् व्यक्ति अपने कर्तव्यों का स्वेच्छा से पालन करें, बाहरी भक्ति के भय से होकर नहीं । राज्यके कार्य सकारात्मक व नकारात्मक है। नकारात्मक तो वह यह चाहता है कि राजय व्यक्ति को वह कार्य करने दें, जो करने योग्य है। इनको करने में जो भी बाधाएं आती है, उन्हें राज्य को उन बाधाओं को दूर करना चाहिए। उसने लिखा है, श्राज्यं की उन बाधाओं को दूर करना चाहिए, जिनका सामना व्यक्ति को करने योग्य काम करने में करना पड़ता है।श सकारातमक दृश्टि से राज्य के कार्य–क्षेत्र की व्याख्या करते हुए ग्रीन राज्य को यह अधिकार देता है कि जहां नैतिकतां के विकास के लिए वह उपयुक्त समझे, वहां नागरिक के कार्य में हस्तक्षेप करें और उचित अवसरों पर बल–प्रयोग भी करें। इस तरह से राज्य का काम उन बाधाओं का अन्त करने तक सीमित है जो मानव की भाक्ति में बाधा पहुंचाते हैं। राज्य सकारात्मक रूप से अपने सदस्यों को अच्छा बनाने का कार्य नहीं कर सकता है। उसका सिर्फ नकारात्मक नैतिक कर्तव्य है कि उन बाधाओं का अन्त करें,

जो मानव को नैतिक बानने के मार्ग मेकं बाधा डालती है। इस प्रकार राज्य का काम बाधाओं में बाधा डालने तक सीमित है । इस कथन से यह भी आभास होता है कि राज्य को कोई रचनात्मक काम नहीं करना

• है, लेकिन अगर ध्यान से देखा जाये तो यह काम बहुत रचनात्मक है। जब राज्य बाधाओं में बाधा डालेगा तो उसे कुछ ठोस काम करना पड़ेगा। ये बाधाएँ निम्न है. –कृकृकृ

(1) पहली बाधा अषिक्षा है। ग्रीन के अनुसार, शबिना ज्ञान के मनुश्य उसी प्रकार पंगु है, जिस प्रकार वह किसी अंगविहीन हो जाने से पंगु हो जाता है।श इस बाधा को दूर करने के लिए राज्य को विद्यालयों की स्थापना करनी होगी और षिक्षा की तरफ ध्यान देना होगा। (2) दूसरी बाधा मद्यपान की बुराई है। इसको दूर करने के राज्य को मद्य निशेध को कदम उठाना चाहिए।

(3). तीसरी बाधा दरिद्रता की है। इस बाधा को दूर करने के लिए राज्य को जमींदारी निशेध का कदम उठाना चाहिए। (4) चौथी बाधा खराब स्वास्थ्य है। इस बाधा को दूर करने के लिए राज्य को अस्पताल बनवाने पड़ेगे। (5) पाँचवी बाधा कारखाने में काम करने वाले श्रमिकों की दुर्दषा है। इसके लिए वह राज्य का हस्तक्षेप आवष्यक मानता था । (6) छठी बाधा अषान्ति और अव्यवस्था है। इसको करने के लिए राज्य को पुलिस व सेना का गठन करना पड़ेगा।

इस तरह से साफ पता चलता है कि ऊपरी तौर पर ग्रीन द्वारा बताये गये राज्य के कार्य नकारात्मक हैं, लेकिन वास्तव में यह सकारात्मक हैं ।

राज्य के हस्तक्षेप की सीमा–– राज्य का हस्तक्षेप व्यक्ति के जीवन में कहां तक होगा और बाधाओं को दूर करने के लिए राज्य क्या–क्या करेग? इसकी कोई निष्चित सीमा ग्रीन ने नहीं बताई है, लेकिन उसने कुछ उदाहरणों द्वारा इसका संकेत जरूर दिया है। नकारात्मक दृष्टि से वह मानता है कि अज्ञानता, बर्बरता, आदि का निराकरण करके राज्य को व्यक्ति के नैतिक विकास के लिए उचित– षिक्षा का प्रबन्ध करना चाहिए। राज्य को भूमि व्यवस्था का कार्य अपने हाथ में रखना चाहिए। व्यक्ति की व्यक्तिगत सम्पत्ति की रक्षा और देखभाल करनी चाहिए, माद्यपान निशेध करना चाहिए द्य भिक्षावषत्ति को खत्म करना चाहिए। भिक्षाव त्ति को खत्म करना चाहिए आदि । ग्रीन ने इन बातों को मानव के विकस में बाधाएँ माना है।

मैक्गबर्न के अनुसार, श्पक्का परम्परावादी होने तथा नैतिकता को बहुत महत्व देने के कारण ग्रीन का विश्वास था कि राज्य के द्वारा उन संस्थाओं एवं दषाओं को समाप्त कर दिया जाना चाहिए, जो अनैतिकता की ओर ले जाती हैं। उसका कहना था कि राज्य चाहे किसी व्यक्ति पर नैतिकता लाद न सके, किन्तु वह उन दषाओं को मिटा सकता है, जो मनुश्यों को अनैतिक बनने के लिए आकर्शित करती है।श संक्षेप में ग्रीन के अनुसार, राज्य के निम्नलिखित कार्य हैं

(1) नैतिकता में बाधा पैदा करने वाली परिस्थितियों का दमन करना।

(2) सदाचार, पवित्रता और संयन को प्रोत्साहन देना

(3) राज्य उन साधनों की व्याख्या करें, जिनसे नागरिकों में अधिकाधि क नैतिक भावनाओं और चरित्र का विकास हो ।

(4) राज्य ऐसे लोगों के लिए दण्ड की व्यवस्था करें, जो नैतिक विधान बाधक हो।

(5) राज्य षिक्षा प्रसार द्वारा अज्ञानता रूपी सामाजिक अभिषाप को समाप्त करें।

(6) राज्य सामान्य इच्छा और सामान्य कल्याण में बाधा पैदा करने वाले मदिरापान को रोक दें।

(7) राज्य वैयक्तिक सम्पत्ति की रक्षा करें।

(8) राज्य नैतिकता स्थापित करने के लिए बल–प्रयोग करें।

(9) अन्तर्राश्ट्रीय भावना को बढ़ाकर अन्तर्राश्ट्रीय भाान्ति को बढ़ावा दें।

ग्रीन ने इस विचार को द ढ़ता से व्यक्त किया है कि राज्य का कार्य व्यक्तियों को अच्छा जीवन सुलभ कराना है। राज्य व्यक्तियों को ऐसे कार्यों को करने के लिए कभी बाध्य नहीं कर सकता, जिनसे व्यक्तियों को हानि पहुचाती है। लेकिन ऐसे मौके भी आते हैं, जबकि व्यक्ति विवेकपूर्ण लक्ष्य के विशय में नहीं सोच पाता है। ऐसी दषा में राज्य का सक्रिय हस्तक्षेप ही उसे उस लक्ष्य को बताता है। कोई व्यक्ति चाहे वह कितना ही बुद्धिमान व चतुर क्यों न हो, उसके जीवन में ऐसा अवसर आता है, जबकि वह अज्ञानता का भाव अनुभव करता है अथवा वह दूसरों पर निर्भर होकर या उनकी बुरी संगत में पड़कर लक्ष्य से भटक जाता है। इसलिए जब राज्य सार्वजनिक षिक्षा की व्यवस्था करता है, फैक्ट्रियों का नियमन करता है और भूमि सम्बन्धी कानून बनाता है या खाद्य पदार्थों में मिलावट रोकता है तो ऐसा करने में राज्य लोगों के ऊपर नागरिक अच्छाई नहीं थोपता, बल्कि अपनी समस्त भाक्तियों को खोलकर व्यक्ति को आगे बढ़ने का अवसर प्रदान करता है।

इस तरह ग्रीन ने उत्साह के साथ अपने समय के षिक्षा, स्वास्थ्य व श्रम सम्बन्धी व्यवस्थापन का समर्थन किया। ग्रीन ने इन सीमाओं को स्वतन्त्रता विरोधी कभी नहीं माना, बल्कि ग्रीन का विश्वास था कि सरकार सामूहिक कानूनों द्वारा व्यक्तिगत स्वतन्त्रता को बढ़ा सकती है। इसलिए वह कहता है कि राज्य कोई नाजायज कार्य नहीं करता। अगर वह माता–पिता को बच्चा स्कूल भेजने के लिए कहता है अथवा उन्हें फैक्ट्रियों में काम करने से रोकता है, जहां काम करके उनका स्वास्थ्य खराब हो सकता है। इस प्रकार से स्पश्ट होता है कि राज्य के कार्यों के बारे में भी गीन भलाई – बुराई, उचित – अनुचित जैसी नैतिक बातों से प्रभावित था ।

ग्रीन के राज्य सम्बन्धी विचारों से यह निश्कर्श निकाला जा सकता है कि उसने राज्य को साध्य नहीं है, अपितु सांधन माना है। ग्रीन के अनुसार, व्यक्ति का हित साध्य है और राज्य उसको प्राप्त करने का साधन । इस प्रकार ग्रीन के विचारों में लोक कल्याणकारी राज्य को विचार सन्निचित है।

ग्रीन के स्वतन्त्रता सम्बन्धी विचार

जहाँ तक व्यक्ति की स्वतन्त्रता का प्रष्न है, ग्रीन ने काण्ट का अनुसरण किया हैं। उसने स्वतन्त्रता की परिभाशा करते हुए लिखा है कि, श्स्वतन्त्रता का अभिप्राय उन कार्यों को करने व उपभोग करने की सकारात्मक भाक्ति से है, जो करके या उपभोग करने लायक है।श ग्रीन से पहले बेन्थम, मिल व उसके अनुयायियों ने प्रतिबन्धों के अभाव को ही स्वतन्त्रता माना था। ग्रीन उसे नकारात्मक स्वतन्त्रता बताता है और उसने अपनी सकारात्मक स्वतन्त्रता की व्याख्या की । ग्रीन ने बताया कि इस तरह की स्वतन्त्रता मिल जाने पर क्या नतीजा होता है? इस स्वतन्त्रता से मनुश्य नैतिक चेतना के आदेषों का पालन कर लेने से मुक्ति पा लेता है। इसका यह अर्थ है कि एक स्वतन्त्र मनुश्य ऐसे कार्यो को करने की भाक्ति प्राप्त कर लेता है, जिससे वह अपना उच्चतम विकास कर सकता है। बार्कर ने ग्रीन की स्वतन्त्रता के दो लक्षण बताये हैं

(1) सकारात्मक स्वतन्त्रता (च्वेपजपअम स्पइमतजल) —— स्वतन्त्रता सकारात्मक होती है, यह हस्तक्षेप अभावमात्र नहीं है। इसका सच्चा अर्थ है कि इच्छित कार्यों को करने की सुविधा । यह व्यक्ति को इस बात का अवसर प्रदान करते हैं कि वह कुछ कार्य कर सके, ऐसे कार्य जिनसे मनुश्य अपना नैतिक विकास कर सकने में सक्षम हो। इस स्वतन्त्रता का यह अर्थ बिल्कुल नहीं है कि व्यक्ति किसी अन्य व्यक्ति द्वारा अपने लिए कुछ करा सके।

स्वतन्त्रता कुछ काम करने

(2) निष्चयात्मक स्वतन्त्रता (क्मजमतउपदंजम स्पइमतजल) का अवसर देती है, लेकिन इन कार्यों का स्वरूप निष्चयात्मक होता है अर्थात् एक निष्चित कार्य करने की स्वतन्त्रता, कोई ऐसा कार्य जो किये जाने योग्य है, न कि प्रत्येक कार्य । कुछ कार्य का अर्थ यह नहीं होता कि व्यक्ति अच्छे–बुरे हर कार्य करने के लिए स्वतन्त्र है। जुआ खेलना, भाराब पीना, चोरी करना, आदि बातों के लिए छूट देना स्वतन्त्रता नहीं है। एक व्यक्ति को पतन की ओर ले जाने वाले कार्यों को करने की छूट नहीं दी जा सकती। केवल उचित कार्यों को ऐसे कार्य करने की एक व्यक्गित स्वतन्त्रता का दूसरे किसी व्यक्ति की ऐसी ही स्वतन्त्रता से कोई विरोध नहीं हो सकता, क्योंकि सबका लक्ष्य एक ही है, इसलिए यह स्वतन्त्रता दूसरों के साथ मिलकर कार्य करने की स्वतन्त्रता है। इसी तरह ग्रीन के अनुसार, स्वतन्त्रता दूसरों के साथ मिलकर करने योग्य कार्यों को करने की निष्यचात्मक सत्ता है।

ग्रीन की स्वतन्त्रता की अवधारणा से यह बातें भी भामिल हैं——

(अ) स्वतन्त्रता का अर्थ आत्म–सन्तुश्टि नहीं है – उपर्युक्त विवेचन से स्पश्ट है कि ग्रीन स्वतन्त्रता को प्रत्येक कार्य करने की छूट नहीं मानता है और न ही स्वतन्त्रता और स्वच्छन्दता को पर्यायवाची मानता है। उदाहरणार्थ, यदि विद्यार्थी अपने आपको तब स्वतन्त्र रूप से जब उन्हें परीक्षा भवन में मनवाना आचरण करने की छूट हो तो ग्रीन इसे स्वतन्त्रता नहीं, वरन् स्वच्छन्दता और अनुषासनहीनता मानेगा। उसके अनुसार, स्वतन्त्रता तब है जब विद्यार्थी बड़े मनोयोग से पाठ्य पुस्तकों का अध्ययन करें तथा उचित साधनों से परीक्षा दें । उसका विश्वास– स्वतन्त्रता राज्य के हस्तक्षेप के उचित क्षेत्र में ही बनी रह सकती है। ग्रीन की स्वतन्त्रता विधेयात्मक है। आत्मपरक एवं आन्तरिक होने के साथ–साथ यह वास्तविक व सकारात्मक भी है। कानून व्यक्तिगत कानून का रक्षक है ।

(ब) स्वतन्त्रता मानव–चेतना की एक विषेशता ग्रीन के अनुसार, मनुश्य को आत्म–चेतना के विकास के लिए स्वतन्त्रता का होना अनिवार्य है । मानव–चेतना विश्व––चेतना का एक अंष है और विश्व––चेतना का सार स्वतन्त्रता है, इसलिए आत्म चेतना भी स्वतन्त्रता होती है । यह मानव–चेतना स्वतन्त्रता के लिए राज्य की माँग करती है।

(स) स्वतन्त्रता में अधिकार निहित है स्वतन्त्रता की उपर्युक्त भावना स्वयं अधि कारयुक्त होती है। एक व्यक्ति जिस काम को अपने लिए अच्छा समझता है, अन्य मनुश्य भी उसे ष्पूर्णया के लिए उपयोगी समझते हैं और सम्पूर्ण समाज ही उन्हें अपने–अपने विकास में सहायक समझने लगता है जिसका नतीजा यह होता है कि सामाजिकता की भावना पैदा होती हैं

स्वतन्त्रता का अर्थ यह नहीं है कि कोई व्यक्ति अपने अधिकारों का दुरूपयोग करें। स्वतन्त्रता भाब्दा स्वयं अपने आपमें ही स्वतन्त्र है और साथ ही दूसरों को भी उतनी ही स्वतन्त्रता प्रदान करता है, जितना वह खुद स्वतन्त्र है। व्यक्ति को जीवन, सम्पत्ति, घूमने–फिरने, व्यवसाय, कार्य आदि की स्वतन्त्रता की रक्षा करने का अधिकार है, लेकिन साथ ही उसे यह भी ध्यान रखना चाहिए कि अन्य व्यक्ति भी उसी की तरह उपर्युक्त अधिकार रखते हैं। इसलिए व्यक्ति से यह अपेक्षा की जाती है कि वह अपनी स्वतन्त्रता का उपयोग इस तरीके से करेगा, जिससे दूसरों को वैसी ही स्वतन्त्रता में बाधा न पहुँचे।

स्वतन्त्रता का वास्तविक उपयोग तभी हो सकता है, जब वह अधिकारयुक्त है। अधिकार विहीन स्वतन्त्रता उच्छ खलता होती है। अगर हमें व्यक्तित्व की उन्नति करने के लिए पूर्ण स्वतन्त्रता की अपेक्षा है तो यह स्वभाविक है कि हमें जीवन का अधिकार, सम्पत्ति का अधिकार एवं कार्य का अधिकार आदि प्राप्त हों। लेकिन इसका यह मतलब नहीं है कि हम अपने मार्ग में आने वाली बाध ओं को इस रूप में हटाने के लिए प्रयत्नषील हो जायें कि अन्य अपने मार्ग में आने वाली बाधाओं को इस रूप में हटाने के लिए प्रयत्नषील हो जायें कि अन्य व्यक्तियों में वैसे ही अधिकारों का हननकृ हो !

ग्रीन के अधिकार सम्बन्धी विचार–ग्रीन का कहना है कि कुछ अपनी माँगे व दावे भी होते हैं इनको अधिकारों की मर्यादा की सीमा के अन्तर्गत बाँध देना चाहिए। एक बार जब अधिकार निष्चित हो जाये तो राज्य के लिए भी आवष्यक है कि वह ऐसे वातावरण को उत्पन्न करें, जिससे कि इन अधिकारों को प्रयोग सम्भव हो सके ।

ग्रीन अधिकार को परिभाशित करते हुए कहता है कि, श्अधिकार व्यक्ति द्वारा अपने ऐसे उद्देष्यों को पूर्ण करने की भाक्ति है जिन उद्देष्यों को वह अपने लिए हितकर समझता है तथा समाज यह अधिकार व्यक्ति को इस आधार पर प्रदान करता है कि इस अधिकार के प्रयोग से समाज को लाभ पहुँचेगा।

यहाँ पर हम ग्रीन के प्राकृतिक अधिकार सम्बन्धी विचारों पर आ जाते हैं। उसका मत है कि किसी–न–किसी दषा में प्राकृतिक अवस्था में मनुश्य अवष्य रहा होगा, लेकिन वह हॉब्स, लॉक व रूसो की तरह यह स्वीकार नहीं करता कि प्राकृतिक अवस्था में मनुश्य को कुछ अधिकार प्राप्त थे। इसका कारण यह है कि व्यक्ति की किसी भी माँग का तब तक कोई महत्व नहीं है, जब तक वह समाज में रहना षुरू नहीं कर देता या समाज की स्थापना नहीं

हो जाती। समाज की स्वीक ति के बगैर व्यक्ति का कोई दावा अधिकार नहीं बन सकता

ग्रीन यह भी बताता है कि अधिकार क्या है? अधिकार के दो पक्ष होते हैं। पहला पक्ष तो व्यक्ति का है जो अपनी एक निष्चित चेतना के बाद वस्तुओं को प्राप्त करना चाहता है और दूसरा पक्ष समाज का है जो व्यक्ति को कुछ निष्चित वस्तुएँ रखने का कार्य करने की अनुमति देता है। जब समाज व्यक्ति को किसी माँग की पूर्ति अपनी स्वीक ति देकर करता है तो वह व्यक्ति का प्राकृतिक अधिकार हो जाता है। उदाहरण के लिए, अगर समाज यह निष्चित कर दे कि किसी भी व्यक्ति का वेतन सौ रूपये मासिक से कम नहीं होगा तो व्यक्ति का प्राकृ तिक अधिकार हो जायेगा । अतः प्राकृतिक अधिकार का यह अर्थ नहीं है कि यह अधिकार मनुश्य को समाज पूर्ण अवस्था में प्राप्त था । प्राकृतिक अधिकार वे अधिकार हैं, जो मनुश्य को उन अवसरों को प्राप्त कराते हैं, जिनके द्वारा मनुश्य अपने उच्चतम आदर्ष को प्राप्त करता है ।

प्राकृतिक व कानूनी अधिकार— ग्रीन ने प्राकृतिक व कानूनी अधिकारों में भेद किया है। जब तक व्यक्ति के अधिकार पर केवल समानता की स्वीक ति रहती है, तब तक राज्य बल प्रयोग द्वारा किसी भी वर्ग या व्यक्ति के उन अधिकारों को मानने के लिए बाध्य नहीं कर सकता। इसका यह अर्थ है कि प्राकृतिक अधिकारों को क्रियान्वित कराने का अधिकार राज्य को प्राप्त नहीं है, लेकिन एक बार प्राकृतिक अधिकारों को राज्य की स्वीक ति प्राप्त हो गई तो फिर वे कानूनी अधिकार हो जाते हैं। राज्य कानूनी अधिकारों को लागू करने का अधिकार रखता है। इसके लिए वह बल—प्रयोग भी कर सकता है ।

कभी—कभी प्राकृतिक अधिकार केवल सामाजिक चेतना के अंग ही बने रहते हैं और उन्हें राज्य की स्वीक ति नहीं मिलती । अधिकांष सामाजिक रीति—रिवाज व परम्पराएँ इसी तरह की होती हैं। ग्रीन का विचार है कि आदर्ष राज्य या समाज में प्राकृतिक अधिकारों और वैधानिक अथवा कानूनी अधिकारों में कोई अन्तर नहीं होना चाहिए ।

अधिकार व स्वतन्त्रता के सम्बन्ध में ग्रीन ने मानव क्रियाओं को दो भागों में बाँटा है——

(1) एक तो के वे कार्य जिनका केवल उसी से सम्बन्ध है ।

(2) वे कार्य जो व्यक्ति के साथ समाज से भी सम्बन्ध रखते है ।

ग्रीन का कहना है कि राज्य को व्यक्ति के पहले प्रकार के सम्बन्ध में हस्तक्षेप नहीं करना चाहिए। लेकिन दूसरे प्रकार के सम्बन्धों को सुनिष्चित कानून द्वारा किया जाता है। ग्रीन का यह विभेद भ्रमपूर्ण है।

अधिकार व नैतिकता— ग्रीन के अधिकार व नैतिकता के बीच अन्तर है। नैतिकता व्यक्ति के अधिकारों से ठीक विपरीत अवस्था का प्रतिनिधित्व करती है। अधिकारों का सम्बन्ध मनुश्य

की चेतना पर विवेक व्यक्ति से होता है। नैतिकता वहाँ कार्य करती है, जहाँ राज्य की पहुँच नहीं होती है। उदाहरण के लिए, राज्य कानून बनाकर लोगों को विषेश धर्म मानने के लिए बाध्य कर सकता है, परन्तु लोगों में उस धर्म के प्रति विश्वास पैदा नहीं कर सकता। अधिकार तो सिर्फ मनुश्य की बाह्य क्रियाओं को प्रदर्षित करते हैं। अधिकारों के प्रयोगों से

ही कोई व्यक्ति नैतिक नहीं बन जाता है। नैतिक व्यक्ति वही होता है, जो अपनी अन्तःप्रेरणा या भली इच्छा (त्मंस ूपसस) के वषीभूत होकर कार्य करता है। यह जरूरी है कि अधिकार व्यक्ति को नैतिक बनने में सहायता दे सकते हैं।

उसके द्वारा होनी चाहिए। मनुश्य को नैतिक श्रेश्ठता प्राप्त करने के लिए कुछ स्वतन्त्रता प्राप्त होनी चाहिए। ऐसा

वहीं हो सकता है, जहाँ उस समाज के सदस्य आमतौर से यह स्वीकार करते हों कि इस तरह की स्वतन्त्रता उनके सामान्य हित के लिए है। यह स्वीक ति कानूनों से प्रकट होती है। इसलिए जब कोई व्यक्ति संस्थाओं की सत्ता की अधीनता को स्वीकार कर लेता है, जिनके द्वारा कानून बनाये जाते हैं और लागू किये जाते हैं तो वह अपने जीवन पर एसी अवस्थाओं का नियमन स्वीकार कर लेता है, जिनके बगैर वह वैसा जीवन भोग नहीं सकता। इस तरह कानून व राज्य व्यक्ति को पूर्णता प्राप्त करने में मदद करते हैं। इसलिए व्यक्ति कानून का पालन करता है। इसके द्वारा व्यक्ति समाज के साथ–साथ अपना विकास करता है।

(अ) दण्ड – ग्रीन का कहना है कि दण्ड के बारे में दो विचार प्रचलित है –– (1) प्रतिरोधात्मक सिद्धान्त– इसके अनुसार, अपराध न करें। (2) सुधारात्मक सिद्धान्त–दण्ड का उद्देष्य व्यक्ति का सुधार करना है। व्यक्ति मूलतः अपराधी नहीं होता ।

.ग्रीन के इन दोनों सिद्धान्तों को अस्वीकार किया। प्रतिरोधात्मक सिद्धान्त मानवता केखिलाफ है, निवारण सिद्धान्त के खिलाफ है कि एक व्यक्ति को दूसरे का साधन नहीं बनायाजा सकता है। सुधारक सिद्धान्त भी सही नहीं है, क्योंकि असली सुधार तो अन्तरात्मा कीप्रेरणा से होता है ।

ग्रीन का कहना है कि दण्ड का उद्देष्य सिर्फ अधिकारों को भंग होने से रोकना है। उसका उद्देष्य अधिकारों और कर्तव्यों की उस व्यवस्था को सुरक्षित रखना है, जो जीवन के नैतिक उच्चतम आदर्ष को प्राप्त करने के लिए मानती है।

अगर अपराधी यह महसूस करता है कि दण्ड के रूप में जो उसे मिला है, उसका वह पात्र है और दण्ड उसके गलत काम का ही परिणाम है तो दण्ड सुधारात्मक हो जाता है। अपराधी को अपने किये कार्य का पष्चाताप होना चाहिए। दण्ड ऐसा होना चाहिए कि व्यक्ति अपनी भावना को बदलने पर मजबूर हो जाय

ग्रीन का कहना है कि दण्ड राज्य के कार्य का ही अंग है । वह व्यवस्थित समाज के मार्ग की बाधा को रोकता है। हर अपराध संस्थागत समाज को बिगाड़ने का प्रयत्न होता है । दण्ड के द्वारा सामाजिक व्यवस्था सन्तुलित बनी रहती है।

(ब) सम्पत्ति (च्तवचमजल) – ग्रीन सम्पत्ति के मुख्य स्त्रोत व मुख्य दोशों को बताता है। वह लिखता है, श्भूमि का व्यक्तियों द्वारा अधिकांष अवस्थाओं में श्रम व्यय द्वारा जन्म नहीं हुआ, बल्कि भाक्ति द्वारा हुआ है। भूमि के मूल स्वामी विजेता रहे है। भूमि के प्रारम्भिक स्वामित्व ने सामन्तवाद को बना दिया है। इसी तरह से जब औद्योगिक युग प्रारम्भ हुआ तो संघ लोगों के उत्तराधिकारी श्रमिक हो गये लेकिन ग्रीन इन विशयों का विस्तार से वर्णन नहीं करता । ग्रीन यह जरूर चाहता था कि जमींदार को खेलने की स्वतन्त्रता नहीं मिलनी चाहिए। खेलने से मतलब यह है कि पहले अगर जमींदार का षिकार खेत में चला जाता है तो उसका खेत में पीछा करना, चाहे उसके फसल को कितना ही नुकसान हो। ग्रीन का कहना

था कि अगर किसान जमींदार की जमीन को छोड़ता है तो उसे उसके रम का मूल्य मिलना चाहिए, लेकिन ग्रीन सम्पत्ति के निजी स्वामित्व का संमर्थक था । इसके द्वारा व्यक्तियों को विकास करने का अवसर मिलता है, लेकिन राज्य को सम्पत्ति से जुड़ी बुराइयों को दूर या कम करना चाहिए। अगर सम्पत्ति वाला वर्ग अपने अधिकारों का गलत इस्तेमाल करता है तो राज्य को हस्तक्षेप करना चाहिए।

(स) युद्ध व विश्व––व्यवस्था – ग्रीन ने युद्ध व विश्व व्यवस्था पर भी विचार प्रकट किये कुछ लोग युद्ध को बड़े पैमाने पर हत्याकाण्ड मानते है, ग्रीन युद्ध व हत्या में अन्तर मानता है। युद्ध का उद्देष्य सामाजिक हित होता है, जबकि हत निजी स्वार्थ के लिए होती है। इसी तरह जब कोई व्यक्ति किसी दूसरे की हत्या करता है तो उसमें द्वेश भावना होती है तो कोई एक सैनिक जब दूसरे सैनिक को मारता है तो उसमें द्वेश भावना नहीं होती है। इसलिए युद्ध को हत्या नहीं कहा जा सकता है, लेकिन यह सही है कि युद्ध से व्यक्ति के जीवन के अधिकार को छीना जाता है। जो लोग यह समझते हैं कि सिपाही अपनी इच्छा से सेना में भर्ती होते हैं। इसलिए राज्य पर इन सैनिकों को जीवन के अधिकार से वंचित करने का दोश नहीं लगता है, वे गलत हैं। समाज का उद्देष्य व्यक्तियों की भलाई है और सैनिकों का इसका अपवाद नहीं है। इसलिए सैनिकों के मामले में भी राज्य जीवन अधिकार की माँग करने के आरोप से मुक्त नहीं हो सकता कुछ लोग युद्ध को नैतिक जीवन के लिए आवष्यक मानते हैं। उनका विचार है कि न्यायऔर नैतिक जीवन की रक्षा के लिए युद्ध जरूरी होता है। आत्म निर्णय के लिए, सत्य कीविजय श के लिए और लोगों में उत्साह पैदा करने के लिए राज्य को युद्ध लड़ना चाहिए।

लेकिन ग्रीन का मत अलग है–

(1) युद्ध पूर्णतः उचित नहीं हो सकता है। यह अपेक्षित रूप में ही न्यायसंगत हो सकता है (2) युद्ध एक बर्बर आवष्यकता के रूप में लड़ा जा सकता है। (3) युद्ध अपूर्ण राज्य की निषानी है। (4) जैसे–जैसे लोगों व विश्व के राज्यों के आपसी सम्बन्ध बढ़ेंगे, उनमें भाई–चारे की भावना पैदा होगी व समान हितों के लिए समान चेतना पैदा होगी। युद्ध का अपने आप खात्मा हो जायेगा । (5) ग्रीन का आदर्ष एक भान्तिमय समाज है।

विश्व व्यवस्था के विशय में ग्रीन बताता है कि राज्य हॉब्स के लेवियाथन की भाँति एकांकी नहीं है। वह हॉब्स के इस विचार को अस्वीकार करता है कि राज्यों में परस्पर मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध नहीं होते हैं वस्तुतः राज्य को अन्य राज्यों से सम्बन्ध रखने चाहिए और इन सम्बन्धों का आधार विश्व–बन्ध श्रत्व की भावना होनी चाहिए। इस विशय में ग्रीन जीवन का अधिकार लेता है। यह अधिकार समस्त विश्व में मूलभूत अधिकार के रूप में स्वीकार किया जाता है।

अभ्यास – प्रष्न

1. राज्य का आधार इच्छा नहीं भाक्ति है, श्इस कथन की विवेचना करें।

2. राज्य के कार्यों का वर्णन करें।

3. ग्रीन के स्वतन्त्रता सम्बन्धी विचारों को स्पश्ट करें।

4. अधिकारों के सम्बन्ध में ग्रीन की क्या सोच हैं?

कार्ल मार्क्स का जीवन परिचय (1818 ई० से 1883 ई०)

20वीं भाताब्दी के विष को मार्क्सवादी चिंतन ने जितना प्रभावित किया, उतना अन्य किसी राजनीतिक चिंतक ने नहीं किया। विश्व में आधुनिक काल में साम्यवाद जैसा कोई आंदोलन नहीं हुआ । मार्क्स के चिंतन को आधार मानकर ही रूस और चीन में क्रांति हुई और समस्त विश्व के पूंजीवादी देष साम्यवादी क्रांति से भयभीत रहे । यद्यपि मार्क्स से पूर्व भी दार्षनिकों ने विश्व की व्याख्या करने का प्रयास किया है, लेकिन मार्क्स ने विश्व को बदलने का प्रयास किया है। उसके विचारों ने दुनिया को बदल डाला, पूंजीवादी भाासकों के तख्ते पलट दिए

मार्क्स द्वारा समाज के आर्थिक एवं भौतिक विष्लेशण में अपनाई गई दृश्टि को ष्मार्क्सवाद कहा जाता है। मार्क्सवाद का उदय तब हुआ, जब पूंजीवादी व्यवस्था अपने चरमोत्कर्श पर थी। ऐसे समय में मार्क्स ने इतिहास की आर्थिक व्याख्या करके मानव की समस्याओं को हल करने के अनेक उपाय बताए। मार्क्स ने समाजवाद को अव्यवस्थित रूप में पाया और उसे एक निष्चित आंदोलन बना दिया। मार्क्सवाद ऐसा दर्षन है, जिसने सर्वहारा वर्ग के प्रभुत्व को स्थापित करने के लिए एक व्यावहारिक कार्यक्रम प्रस्तुत किया।

जीवन परिचय

मार्क्स का जन्म 1818 में सम्पन्न यहूदी परिवार में जर्मनी के त्रियेर नामक नगर में हुआ। बचपन से ही वे अपना अधिकांष समय पढ़ने में लगाते थे और उनकी यह प्रव ति जीवन भर बनी रही। मार्क्स के जीवन का ज्ञान येस्तेपानोवा की पुस्तक मार्क्स एक जीवनी से होता है। मार्क्स ने जर्मनी के विभिन्न विश्वविद्यालयों में कानून, दर्षन और इतिहास का अध्ययन किया। मार्क्स को डेमोक्रेटस और एपीक्यूरिपन के प्रकृति दर्षन में भेद पर डॉक्टरेट की उपाधि प्राप्त हुई। मार्क्स विश्वविद्यालय में अध्यापन कार्य करना चाहते थे, लेकिन उनके उग्र विचारों के कारण, ऐसा संभव न हो सका। उन्होंने अपने विचारों को जनता तक पहुंचाने के लिए ष्राइनष समाचार पत्र में 1842 से लिखना आरम्भ किया, लेकिन एक वर्श बाद ही सरकार ने इसे बन्द कर दिया। 1843 में जेनी से विवाह के पष्चात वे ष्जर्मन फ्रांस वार्शिकीष का संपादन करने हेतु पेरिस चले गए। परन्तु इसका पहला अंक ही अंतिम सिद्ध हुआ और उन्हें प्रषिया सरकार के दबाव पर पेरिस से भी निकाल दिया गया। इसके बाद उन्होंने विवष होकर बेल्जियम की राजधानी ब्रूसेल्स में भारण ली, जहाँ जीविकोपार्जन का कोई साधन न होने के कारण, उन्होंने एंजिल्स से मदद ली। मार्क्स और एंजिल्स ने मिलकर 1848 में ष्कम्युनिश्ट घोशणा पत्र प्रकाषित किया, यह साम्यवाद की बाइबिल की तरह है। इसके अंत में कहा गया है मजदूरों के पास अपनी बेड़ियों के अतिरिक्त खोने को कुछ नहीं है, जीतने के लिए उनके पास सारी दुनिया है । श्दुनिया के मजदूरों एक हो जाओ।

बेल्जियम सरकार ने भी उन्हें क्रांतिकारी विचारों के कारण जेल में डाल दिया, इसके बाद मार्क्स ने इंग्लैण्ड को ही अपनी कर्मभूमि बनाया। यद्यपि उन्होंने यहां आर्थिक तंगी में कश्टपूर्ण जीवन व्यतीत किया लेकिन उन्होंने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक ष्कैपिटलष की रचना की 1864 में प्रथम इंटरनेषनल संविधान बनाने में भी मार्क्स की महत्वपूर्ण भूमिका रही। मार्क्स

ने भारत में ब्रिटिष सरकार द्वारा उपनिवेषवादी तथा आर्थिक भोशण की कड़ी आलोचना की । आर्थिक अभाव और बीमारी से संघर्श करते हुए 1883 में उनकी मृत्यु हो गई । यद्यपि उनकी जीवन यात्रा समाप्त हो गई थी, लेकिन उनकी विचारों की यात्रा जारी रही।

मार्क्स की रचनाएँ

मार्क्स की महत्वपूर्ण रचना निम्नलिखित है

1. The Poverty of Philosophy (1844)

2. German Ideology

3. Communist Manifesto (1848)

4. Value Price and Profit (1865) .

5. Capital

Vol- 1 (1867)

Vol- 2 (1885)

Vol- 3 (1894)

6. The Civil War in France 1871

मार्क्स के प्रमुख सिद्धान्त

द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद (Dialectical Materialism) के सिद्धान्त द्वारा मार्क्स ने काल्पनिक या स्वप्नलोकीय समाजवाद को बास्तविकता के धरातल पर उतारने का कार्य किया। उसने पूंजीवाद के दोशों का वर्णन करने के साथ–साथ पूंजीवाद का अंत कर, वर्ग विहीन समाज की स्थापना करने के लिए विधिवत् प्रक्रिया का भी वर्णन किया । इसीलिए मार्क्स को वैज्ञानिक समाजवादी भी कहते हैं और उसके दर्षन को वैज्ञानिक समाजवाद ̀(बपमदजपपिब ̀वबपंसपेउ) द्य मार्क्स ने अध्ययन के उपरान्त यह निश्कर्श निकाला कि मानव समाज में परिवर्तन अकस्मात नहीं होते वरन कुछ विषिश्ट नियमों के अनुसार ही होते हैं मार्क्सवाद का भवन, द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद की आधारषिला पर खड़ा हुआ है वि० अफानास्येव के अनुसार, श्मार्क्सवाद ने द्वन्द्ववाद का विचार हींगल से तथा भौतिकवाद का विचार फायरबाख से ग्रहण किया और उनका भौद्धिकरण एंव समन्वय करके द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद का निर्माण किया मार्क्स ने इसे साम्यवादियों के लिए दिषा निर्देषक यंत्र कहा जिसका प्रयोग करके साम्यवादी अपनी क्रांतिकारी गतिविधियों के संचालन की दिषा निर्धारित करते हैं । मार्क्स की विचारधारा हीगल के द्वन्द्ववाद पर आधारित है, लेकिन मार्क्स ने हीगल के द्वन्द्ववाद को बिल्कुल उल्टा कर दिया है । द्वन्द्व भाब्द ग्रीक भाशा के क्पंसमह भाब्द से बना है, जिसका तात्पर्य है, संवाद या विचार–विमर्ष । मार्क्स ने हीगल के सिद्धान्त के मुख्य आधार षविचारष के स्थान पर ष्भौतिक पदार्थ को स्वीकार किया । हीगल के समान ही मार्क्स का भी मानना है कि समाज की प्रगति के तीन अंग हैं

वाद, के प्रतिवाद, संवाद मार्क्स के अनुसार ष्वादष् समाज की ऐसी स्थिति है, जिसमें अंतर्विरोध नहीं पाया जाता कुछ समय बाद ष्वादष् की प्रतिक्रिया स्वरूप प्रतिवाद का जन्म होता है। यह अवस्था भी अंतिम या पूर्ण नहीं होती, इसलिए वाद और प्रतिवाद में संघर्श के कारण एक नई स्थिति संवाद का जन्म होता है जो अपने आप वाद बन जाता है। इस प्रकार वाद प्रतिवाद और संवाद के माध्यम से विकास क्रम निरन्तर चलता रहता है। मार्क्स ने इसे गेहूँ के पौधे के उदाहरण से समझाया है। गेहूँ का दाना याद है, भूमि में बोने पर अंकुरित पौधा, प्रतिवाद –है, उस पौधे में बालें आने पर, गेहूँ के नये दानों आना ष्सवादष् है। समाज के संदर्भ में पूंजीवाद वाद है, सर्वहारा वर्ग का अधिनायकवाद प्रतिवाद है और साम्यवाद संवाद है।

भौतिकवाद

मार्क्स ने भौतिकवाद का विचार फायरबाख से लिया है। मार्क्स ने भौतिक परिस्थितियों का अर्थ आर्थिक सम्बन्ध माना है। मार्क्स के अनुसार, भौतिक जगत द्वन्द्वात्मक पद्धति के माध्यम से अपनी पूर्ण यात्रा पर अग्रसर है और इसके विभिन्न रूप, उसकी इस यात्रा के विभिन्न पड़ाव है। मार्क्स के द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद की विषेशता –

1.सभी पदार्थों की आंगिक रूप में एकता पाई जाती है !

2.प्रकृति का प्रत्येक पदार्थ गतिषील है ।

3.प्रकृति में द्वन्द्व के इस आधार पर पदार्थ विकास करता है

4.परिवर्तन गुणात्मक एवं भावात्मक होते हैं। यह दोनों प्रकार के हो सकते हैं।

5. परिवर्तन पहले परिमाणात्मक होते हैं, तब गुणात्मक होते हैं, जैसे पहले पानी गर्म होता है, यह परिमाणात्मक परिवर्तन हैं, लेकिन जब यह भाप बन जाता है तो गुणात्मक परिवर्तन होता है। द्वंद्वात्मक भौतिकवाद की आलोचना –

मार्क्स के सिद्धान्त की निम्नलिखित तर्कों के आधार पर आलोचना की गई है

1. मार्क्स के द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद की धारणा अत्यधिक गूढ़ एंव अस्पश्ट है।

2. यह मात्र भौतिकवादी दर्षन है जबकि मानवीय चेतना भौतिक तत्वों के अधीन है।

3. मार्क्स जड़ पदार्थों में स्वयं गति मानता है जबकि संसार में सर्वत्र चेतन व्यक्ति द्वारा जड़ भावित के संचालन के उदाहरण देखे जाते हैं ।

4. द्वन्द्वात्मक पद्धति का विकास हींगल और मार्क्स के मस्तिश्क की कल्पना मात्र है। मार्क्स का यह दावा स्वीकार नहीं किया जा सकता कि सत्य के ज्ञान के लिए यही एक मात्र पद्धति है। 5. मार्क्स ने द्वन्द्वात्क पद्धति के लिए केवल कुछ उदाहरण दिए हैं. कोई प्रमाण नहीं दिए यह नहीं माना जा सकता कि भौतिक जगत के नियम, मानव समाज में लागू नहीं किए जा सकते । द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद के आधार पर नार्क्स एक नए समाज की स्थापना का तर्कपूर्ण औचित्य सिद्ध करना चाहता था, जिसके भविश्य में निर्माण की वह कल्पना करता था। गुणात्मक परिवर्तन के आधार पर वह स्पश्ट करता है कि भोशण जब विषेश सीमा तक पहुँच जाएगा, तब श्रमिक वर्ग क्रांति करेगा न कि पूंजीवाद धीरे–धीरे समाप्त होगा ।

इतिहास की भौतिकवादी व्याख्या (Materialistic Interpretation of History)

मार्क्स के इस सिद्धान्त को ष्आर्थिक नियतिवादष (म्बवदवउपब कमजमतउपदंजपवद), ऐतिहासिक भौतिकवाद (भ्पेजवतपबंस उंजमतपंसपेउ) या इतिहास की आर्थिक व्याख्या भी कहते हैं मार्क्स का मत है कि इतिहास का निर्धारण अपने अंतिम रूप में आर्थिक परिस्थितियों द्वारा होता है। उसकी यह मान्यता है कि उत्पादन पद्धति, समाज के विकास में निर्णायक भूमिका निभाती है। मार्क्स ने इतिहास को कुछ विषेश महान व्यक्तियों के कार्यों का परिणाम नहीं माना क्योंकि मार्क्स मानता है के इतिहास की दिषा और गति मानवीय क्रियाओं, नैतिकता, धर्म या राश्ट्रीयता से नहीं वरन केवल आर्थिक तत्वों से प्रभावित होती है। मार्क्स के अनुसार जब मनुश्य उत्पादन करते हैं, वे एक दूसरे के साथ, निष्चित सम्बन्ध सूत्र में बंध जाते हैं। इन उत्पादन सम्बन्धों का स्वरूप उनकी भौतिक उत्पादन भाक्ति के विकास की निष्चित अवस्था के अनुरूप होता है। इस प्रकार मार्क्स के अनुसार भौतिक जीवन की उत्पादन प्रणाली ही जीवन की सामाजिक एंव राजनीतिक प्रकियाओं को निर्धारित करती हैं उत्पादन प्रणाली (डवकम वि चतवकनबजपवद) में जैसे—जैसे परिवर्तन होता है, वैसे—वैसे मनुश्य के सामाजिक सम्बन्ध (तमसंजपवदे वि चतवकनबजपवद) भी बदल जाते हैं। उत्पादन प्रणाली के दो पहलू हैं एक उत्पादन के साधन (डमंदे वि चतवकनबजपवद) जैसे हल, ट्रैक्टर या चक्की आदि और दूसरा उत्पादन के सम्बन्ध ज (तमसंजपवदे वि चतवकनबजपवद) द्य इसीलिए नार्क्स का मत है, श्जब उत्पादन हाथ की चक्की से होता है, तब सामन्त वर्ग अस्तित्व में आता है, जब उत्पादन भाप की चक्की से होता है तब पूंजीपति वर्ग का जन्म होता है। इस प्रकार तकनीकी विकास के कारण उत्पादन प्रणाली में परिवर्तन होता है और सामाजिक सम्बन्धों में भी उसके अनुरूप परिवर्तन होता है। इस प्रकार मार्क्स उत्पादन पद्धति को सामाजिक व्यवस्था का आधार सिद्ध करते हुए उस परिवर्तन प्रक्रिया का वर्णन करता है, जो उत्पादन के साधनों में परिवर्तन के साथ, सामाजिक विकास के नए चरणों को जन्म देती है। मार्क्स के अनुसार, ऐतिहासिक क्रम की प्रत्येक अवस्था अपनी पिछली अवस्था से उत्तम होती है, क्योंकि वह विकास की चरम अवस्था के निकट होती है।

उत्पादन के साधनों के आधार पर बदलने वाले, समाज के इतिहास को मार्क्स ने निम्नलिखित पांच भागों में विभाजित किया है—

1. आदिम साम्यवादीयुग —

मार्क्स के अनुसार, प्रारम्भिक आर्थिक व्यवस्था साम्यवादी ही थी, क्योंकि मनुश्य कन्द मूल और षिकार से अपना पेट भरता था । इस समाज में मानव द्वारा मानव का भोशण नहीं होता था, न कोई भोशक था, न कोई भोशित न भासन था न भासित इसलिए न वर्ग थे और न वर्ग संघर्श ।

2. दासयुग

आदिम साम्यवादी युग में परिवर्तन आए और दास युग आरम्भ हुआ। क शि व्यवस्था के विकास के साथ निजी सम्पत्ति अस्तित्व में आई। इसके साथ ही श्रम विभाजन आरम्भ हुआ और परजीवियों का भी जन्म हुआ। आदिम वर्ग हीन समाज मालिक (डेंजमते) और दासों

ैं(संअमे) में विभक्त हुआ । इस युग में, मालिक का दास पर जमीन या पषु के समान हक होता था ।

3. सामन्तीयुग

इस युग में राजा ओर उसके सामन्त जमीन के मालिक होते थे। उनके लिए उत्पादन कार्य किसानों द्वारा किया जाता था। इस युग में दास, मालिकों की गुलामी से तो आजाद हो गए, लेकिन जमीन के गुलाम बन गए इस तरह से सामन्तं जमीन का टुकड़ा देकर अधिकांष समय अपनी जमीन पर काम करवा कर किसान का भोशण करने लगे।

4. पूंजीवादीयुग –

औद्योगिक क्रांति के कारण उत्पादन प्रणाली में आमूल चूल परिवर्तन आया। पूंजीवाद मे ष्उत्पादन साधन मषीनें महंगी थीं, जो साधारण जनता की पहुंच से दूर थी। अतः मजबूर होकर जनता को अपना श्रम बेचना पड़ा और इस तरह दो वर्ग अस्तित्व में आए पूंजीपति और श्रमिक। मार्क्स के अनुसार, पूंजीवाद अपनी कब्र स्वयं खोदता है। समाजवाद के लक्ष्य की प्राप्ति के लिए जो भौतिक परिस्थितियाँ आवष्यक होती हैं, वे पूंजीवादी समाज के गर्भ में ही छिपी होती है। पूंजीवाद की चरम सीमा आने पर, पूंजीवाद का पतन आरम्भ हो जाता है।

5. साम्यवादी युग

जब पूंजीवादी भोशण चरम सीमा पर पहुंच जाता है, सर्वहारा वर्ग पूंजीपति वर्ग के विरुद्ध क्रान्ति कर देता है। इसके बाद वर्गविहीन और राज्य विहीन समाज की स्थापना होती है। लेकिन इससे पूर्व संक्रमण कालीन युग होता है। जिसमें उत्पादन के साधनों का समाजीकरण हो जाता है

और सर्वहार वर्ग का अधिनायकवाद स्थापित हो जाता है। इसकी समाप्ति के बाद, ऐसे समाज की स्थापना होगी, जो राज्यविहीन व वर्गविहीन होगा और इसमें वितरण का सिद्धान्त होगा प्रत्येक अपनी योग्यता के अनुसार कार्य करे और आवष्यकता अनुसार प्राप्त करे। उत्पादन सम्बन्धों के आधार पर ही मार्क्स के द्वारा समाज के इतिहास को पांच प्रमुख युगों में बांटा गया है।

इतिहास की आर्थिक व्याख्या की आलोचना–

मार्क्स के इस सिद्धान्त की पूंजीवाद के समर्थकों के कटु आलोचना की है जो निम्नलिखित

1. आर्थिक तत्व ही निर्णायक नहीं

यद्यपि आर्थिक तत्वों का समाज में होने वाले परिवर्तनों में महत्वपूर्ण स्थान है, तथापि अन्य तत्व भी सामाजिक व्यवस्था में महत्वपूर्ण स्थान रखते हैं। भौगोलिक तत्व, राजनीतिक तत्व सामाजिक वातावरण कहीं अधिक महत्वपूर्ण स्थान रखते हैं ।

2. आर्थिक आधार पर सभी ऐतिहासिक घटनाओं की व्याख्या संभव नहीं

—मार्क्स की व्याख्या इतनी यांत्रिक है कि यह मनोवैज्ञानिक आंदोलनों और राश्ट्रीयता के विकास को नहीं समझा सकती। भौतिकवादी होने के कारण, मार्क्स आदर्षवादी तत्वों की व्याख्या भी नहीं कर सका ।

3. संयोग तत्व की उपेक्षा

मानव इतिहास में अनेक परिवर्तन संयोग के कारण हुए हैं। जैसे यदि जर्मनी और रूस की सरकार, लेनिन को रूस आने की अनुमति नहीं देता तो रूस में बोल्षेविक क्रांति इतनी जल्दी नहीं होती ।

4. धर्म की उपेक्षा

धर्म की इतिहास में महत्वपूर्ण भूमिका रही है। यूरोप में लम्बे समय तक ईसाई धर्म ने महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है आज भी इस्लाम धर्म महत्वपूर्ण होता जा रहा है परन्तु मार्क्स ने इसे कोई स्थान नहीं दिया।

5. राजनीतिक सत्ता का एकमात्र आधार आर्थिक नहीं

यद्यपि मार्क्स ने आर्थिक कारणों को ही एक मात्र कारण माना है परन्तु इतिहास से यह प्रमाणित हनीं होता । नेपोलियन ने फ्रांस की राजनीतिक सत्ता सैनिक भाक्ति से प्राप्त की थी, आर्थिक भाक्ति से नहीं ।

6. इतिहास की अवैज्ञानिक व्याख्या

मार्क्स ने अपनी व्याख्या को प्रमाणों से पुश्ट नहीं किया। उसने पूर्वाग्रहों से नियम ढूँढने का प्रयास किया । इसलिए उसने कल्पना कर ली कि पूंजीवाद विनाष की ओर उन्मुख है, जबकि ऐसा नहीं हुआ है ।

7. मानवीय चेतना एवं सजनात्मक कौषल की उपेक्षा

मार्क्स के अनुसार, उत्पादन की भाक्तियों में परिवर्तन आने पर उत्पादकीय सम्बन्धों में भी परिवर्तन आते हैं, लेकिन उसने यह स्पश्ट नहीं किया है कि एक प्रकार की उत्पादन प्रणाली, दूसरी उत्पादन प्रणाली में कैसे रूपातंरित हो जाती है। इसका कारण है —— मनुश्य द्वारा सचेतन रूप से अपनी रचनात्मक बुद्धि, उद्यम और आविश्कार कौषल का प्रयोग यह मनुश्य की चेतना है जो अचेतन उत्पादन भाक्तियों का निर्माण करती है, उन्हें विकसित ओर परिवर्तित करती है ।

8. मार्क्स की वैज्ञानिक मान्यता के विपरीत

एक ओर मार्क्स भौतिक तत्व को गति भील मानता है और दूसरी ओर कहता है कि ष्साम्यवादष तक पहुँच कर यह भौतिक तत्व गतिषीलता छोड़ देता है। यह कैसे संभव है?

इतिहास की भौतिकवादी व्याख्या का महत्व

मार्क्स के इस सिद्धान्त की चाहे कितनी भी आलोचना की जाए, लेकिन यह सत्य है कि इतिहास को बलदने में आर्थिक तत्व चाहे एकमात्र कारण नहीं रहा हो लेकिन इसका

सर्वाधिक योगदान आवष्यक ही रहा है। इस सिद्धान्त के कारण ही इतिहास के अध्ययन की नवीन पद्धति और दृश्टिकोण का विकास हुआ।

वर्ग संघर्श का सिद्धान्त (Theory of Class war)

वेपर के अनुसार, श्मार्क्स के चिंतन में वर्ग संघर्श की अवधारणा का विषेश महत्व है। मार्क्स वर्ग संघर्श को ही आदिकाल से अब तक के समस्त परिवर्तनों का कारण मानता है। इसलिए ष्कम्युनिस्ट मैनीफेस्टोष में वह स्पश्ट भाब्दों में लिखता है– श्अब तक अस्तित्व में आए, समस्त समाजों का इतिहास वर्ग संघर्श का इतिहास ही रहा है।श मार्क्स के अनुसार, समाज में हमेषा से रहने वाला वर्ग संघर्श, समाज में विद्यमान दो परस्पर विरोधी वर्गों के मध्य चलता रहा है। इनमें से एक वर्ग के हाथ में आर्थिक सत्ता है और दूसरा वर्ग केवल भाारीरिक श्रम ही करता है। पहला वर्ग हमेषा ही दूसरे वर्ग का भोशण करता रहा है। भोशक और भोशित वर्गों में समझौता कभी संभव ही नहीं है। इस सिद्धान्त को समझने के लिए कुछ अवधारणाओं को समझना अनिवार्य है जो निम्नलिखित हैं– वर्ग–––

उत्पादन की किसी विषेश प्रक्रिया से सम्बन्ध रखने वाले उन व्यक्तियों का समूह है, जिनके साधारण हित एक हों।

संघर्श–

असंतुश्ट उत्पादक वर्ग, अपने असंतोश को समय–समय पर असहयोग, हड़ताल आदि द्वारा व्यक्त करता है और जब यह असंतोश चरम पर पहुंच जाता है तो संघर्श क्रान्ति का रूप धारण कर लेता है, जिसमें भोशित वर्ग की विजय अवष्यम्भावी है।

वर्ग संघर्श और पूंजीवाद

मार्क्स के अनुसार, समाज का विकास सहयोग से नहीं वरन वर्ग संघर्श से ही होता है। दास युग, सामंतवादी युग या पूंजीवादी युग सब में दो वर्ग रहे हैं और वर्ग संघर्श रहा है। पूंजीवाद युग में हालांकि पूंजीपति और श्रमिक दोनों को एक दूसरे की जरूरत होती है, लेकिन इनके हित विरोध होते हैं पूंजीपति चाहता है कि वह स्वयं अधिकतम लाभ कमाएँ और मजदूर को न्यूनतम मजदूरी प्रदान करें, जबकी मजदूर चाहता है कि वह अधिकतम मजदूरी प्राप्त करे यही हमेषा से चले आ रहे संघर्श का आधार रहा है इस संघर्श के कारण ही समाज में या तो क्रान्तिकारी परिवर्तन आए या संघर्श वाले वर्ग को हानी उठानी पड़ी।

पूंजीवादी युग में यह संघर्श अपनी चरम पर पहुंच जाता है, क्योंकि पूंजी और जमीन धीरे–धीरे कुछ हाथों में केन्द्रित हो जाती है इसके कारण पूंजीपति वर्ग बड़ा होता जाएगा। श्रमिक वकर्ग अपनी विषाल संख्या और सुद ढ़ संगठन के बल पर मुट्ठी भर पूंजीपतियों को धराषायी करने में समर्थ होगा। श्रमिक वर्ग की विजय के बाद पूंजीपतियों को भी श्रमिक बनने पर विवष किया जाएगा और इस तरह वर्ग विहीन समाज की स्थापना होर्ग सर्वहारा वर्ग इतिहास में एक मात्र ऐसा वर्ग है, जो स्वयं को ही नहीं वरन सम्पूर्ण मानव जाति को भोशण से मुक्त करेगा.!

मार्क्स के अनुसार अब तक ऐसा हुआ है कि जिस वर्ग ने भोशणकर्ताओं से सत्ता छीनी वह स्वयं भी कालांतर में भोशक बन गया, परन्तु सर्वहारा वर्ग की क्रान्ति इस रूप में भिन्न है,

क्योंकि इसके बाद भोशक का अस्तित्व ही समाप्त हो जाएगा। वर्ग संघर्श सिद्धान्त की आलोचना निम्नलिखित आधारों पर की गई है––

1. मानव इतिहास मात्र संघर्श का इतिहास नहीं है

समाज में यदि मात्र संघर्श ही होता तो समाज की कल्पना नहीं की जा सकती थी । समाज में संघर्श के साथ ही सहयोग भी विद्यमान रहा है यह सहयोग ही मानव विकास का आधार रहा है, अन्यथा यह माना समाज समाप्त ही हो जाता ।

2. समाज में केवल दो ही वर्ग नहीं

समाज में केवल दो वर्गों का अस्तित्व बताकर, मार्क्स ने जाति समाज को अत्यधिक सरल रूप में समझने का प्रयास किया है। इसके अतिरिक्त समाज का नेत त्व करने वाले और प्रभावषाली भूमिका निभाने वाले मध्यम वर्ग की उपेक्षा, मार्क्स की बहुत बड़ी कमजोरी है।

3. मार्क्स की क्रांति की धारणा गलत

मार्क्स की पूंजीवाद की व्याख्या गलत सिद्ध हुई क्योंकि जहाँ जिन देषों में क्रांति की सबसे कम आषा थी, वहाँ क्रांति हुई, जबकि इंग्लैण्ड जैसे देष जहाँ पूंजीवाद पूरा विकसित था, में क्रान्ति नहीं हुई।

4. मार्क्स की भविश्यवाणी का कोई वैज्ञानिक आधार नहीं

सर्वहारा की विजय, तानाषाही या वर्गविहीन समाज की स्थापना का कोई वैज्ञानिक आध र नहीं है। यह भी हो सकता है, जैसा लास्की का मत है पूंजीवाद के विनाष का परिणाम साम्यवाद नहीं वरन अराजकता भी हो सकता है। औद्योगिक समाज की वर्ग व्यवस्था इतनी अधिक जटिल होती है कि उसे मार्क्स के इतने सरल सिद्धान्त से हनीं समझा जा सकता

वर्ग संघर्श सिद्धान्त का महत्व

मार्क्स ही वह प्रथम चिन्तक है, जिसने वर्ग हितों के आधार पर इतिहास की व्याख्या की है। मार्क्स का यह सिद्धान्त, श्रमजीवी वर्ग के लिए प्रेरणा का स्त्रोत रहा है, क्योंकि इसके द्वारा श्रमजीवी वर्ग की विजय निष्चित बताई गई है। इस सिद्धान्त का सम्पूर्ण विश्व पर प्रभाव हुआ है। पूंजीवादी देषों में श्रमिकों की स्थिति में सुधार के प्रयत्न किए गयें इस प्रकार पूंजीवादी भोशण से रक्षा की दृश्टि से यह एक महत्वपूर्ण हथियार प्रमाणित हुआ । यह मानवता के लिए उपयोगी रहा है क्योंकि यह विश्व में समानता की स्थापना और भाान्ति की दृश्टि से भी उपयोगी रहा है।

अतिरिक्त मूल्य का सिद्धान्त

मार्क्स ने पूंजीवाद का गहन अध्ययन करके, ष्अतिरिक्त मूल्य का सिद्धान्तष प्रतिपादित किया और यह सिद्ध किया कि पूंजीवादी व्यवस्था भोशण पर ही आधारित है। इसका प्रतिपादन मार्क्स ने ष्कैपिटलष में किया है। यह सिद्धान्त रिकॉर्डो एडम स्मिथ के ष्मूल्य के श्रम सिद्धान्तष (स्इवनत जीमवतल व िअंसनम) से लिया गया है। यह सिद्धान्त मानता है कि किसी भी वस्तु का विनिमय मूल्य, उस वस्तु के उत्पादन में लगाए गए सामाजिक दृश्टि से

लाभदायक श्रम पर निर्भर करता है। मार्क्स ने इस सिद्धान्त को रामझाने के लिए दो प्रकार के मूल्यों का उल्लेख किया है–

1. उपयोग मूल्य –

जो भी वस्तु मनुश्य की इच्छा पूरी करती है, वह मनुश्य के लिए उपयोगी है, अतः मनुश्य के लिए मूल्यवान भी है। जैसे रेगिस्तान में पानी सबसे अधिक उपयोगी है, इसलिए सर्वाधिक मूल्यवादन भी है।

विनिमय मूल्य

यह मूल्य वह अनुपात है, जिसका वस्तु के बदले में वस्तु के रूप में विनियम हो सके किसी वस्तु का विनिमय मूल्य क्या होगा, यह उस वस्तु में लगाए गए, श्रम की मात्रा पर निर्भर करता है इस प्रकार मार्क्स भी रिकार्डों के समान मानता है कि श्रम ही मूल्य का स्त्रोत है।

अतिरिक्त मूल्य

प्रत्येक श्रमिक जितना कार्य करता है, उससे कम मजदूरी प्राप्त करता है। अतिरिक्त मूल्य उन दो मूल्यों का अंतर है, जिसे एक श्रमिक पैदा करता है, तथा जिसे वह वास्तव में प्राप्त करता है । इस अतिरिक्त मूल्य या लाभ का कोई भी अंष मजदूरों को नहीं दिया जाता. पर इसके संचय

से ही ष्पूंजीष बनती है। मजदूरों के विरूद्ध भोशण का यह कुचक्र लम्बे समय से चल रहा है और इसका अंत, पमंजीवाद के अंत के साथ ही होगा। यह अतिरिक्त मूल्य, एक प्रकार की बेईमानी है, क्योंकि पूंजी अपने आप में कोई मूल्य उत्पन्न नहीं करती, श्रम से यह मूलय उत्पन्न हाता है, जिसकी पूंजीपति चोरी कर लेता है। साम्यवादी व्यवस्था में श्रमिकों को उनके श्रम का मूल्य दिया जाएगा, अतः उनका भोशण नहीं होगा। सामाजिक सेवाओं के लिए श्रमिक द्वारा उत्पादित मूल्य का कुछ हिस्सा रखा जाएगा, लेकिन वह अतिरिक्त मूल्य नहीं होगा ।

अतिरिक्त मूल्य सिद्धान्त की आलोचना–

1. केवल श्रम, उत्पादन और मूल्य निर्धारण का स्त्रोत नहीं है

मूल्य निर्धारण को प्रभावित करने वाले अन्य स्त्रोत भी होते हैं, जैसे–पूंजी, मषीन, कच्चा माल, तकनीकी ज्ञान, प्रबन्ध कौषल आदि । इसके अलावा वस्तु की उपयोगिता, माँग और उपलब्धता भी महत्वपूर्ण होती है। अतः मूल्य निर्धारण की प्रक्रिया उतनी सरल नहीं है, जितनी मार्क्स बताता है । जैसे लोहे और सोने को निकालने मे समान श्रम लगने के उपरान्त भी उनके मूल्य में अंतर होगा, जिसका कारण उनकी उपयोगिता, उपलब्धता और माँग है ।

2. सम्पूर्ण अतिरिक्त मूल्य, लाभ नहीं है

पूंजीपति किसी वस्तु के उत्पादन के लिए केवल श्रमिकों को ही मजदूरी नहीं देता वरन उसे अन्य अनेक खर्च करने पड़ते हैं, जैसे कच्चा माल, मषीनें, प्रबन्ध, श्रमिकों की बीमारी बीमा आदि। इन सबके उपरान्त उसका लाभ बहुत कम बचता है।

3. मानसिक श्रम की पूरी तरह उपेक्षा

मार्क्स ने केवल भारीरिक श्रम को ही उत्पादन का स्त्रोत माना है, मानसिक श्रम की वह पूरी तरह उपेक्षा करता हैं। जबकि तकनीकी ज्ञान, प्रबन्धन क्षमता आदि के अभाव में उत्पादन संभव ही नहीं है ।

4. विरोधाभासी सिद्धान्त

एक ओर तो मार्क्स. यह स्वीकार करता है कि पूंजीपति मुनाफा बढ़ाने के लि नई मषीनें लगाता है, दूसरी ओर वह कहता है कि वस्तु के मूल्य का निर्धारण केवल श्रम से ही होता है। इस प्रकार इन दोनों तथ्यों में विरोधाभास दिखाई देता है।

5. यह सिद्धान्त आर्थिक कम और प्रचारात्मक ही अधिक है

इसका उद्देष्य केवल पूंजीवाद को बदनाम करना और श्रमिकों के पक्ष में माहौल बनाना है । इसीलिए यह कहा जाता है कि यह आर्थिक सत्य होने के स्थान पर राजनीतिक और सामाजिक नारा मात्र है।

6. मार्क्स का सिद्धान्त मौलिक नहीं है

कोकर का मत है कि यह सिद्धान्त 19वीं भाताब्दी में अंग्रेज विद्वान विलियम पेंटी ने प्रदान किया था । वेपर के अनुसार, यह रिकार्डो के सिद्धान्त का ही व्यापक रूप है। सेबाइन का भी यही मत है ।

इकाई – 17 मार्क्स के अनुसार सामाजिक इतिहासों का वर्गीकरण

अतिरिक्त मूल्य सिद्धान्त का महत्व

यद्यपि मार्क्स के इस सिद्धान्त को मौलिक नहीं माना जाता, तथापि इसके माध्यम से मार्क्स ने पूंजीवाद के भोशण और मुनाफे के नकारात्रांक स्वरूप को विश्व के सम्मुख प्रस्तुत किया । यद्यपि मार्क्स के इस सिद्धान्त को पूरी तरह सत्य नहीं माना जा सकता परन्तु यह भी सच है कि पूंजीपति श्रमिकों के श्रम के बल पर ही अपना आर्थि साम्राज्य खड़ा करते ह

अस्तित्व नहीं था। लेकिन दास युग में समाज दो भागों में विभाजित हो गया, स्वामी और दास स्वामी वर्ग ने दासों पर नियंत्रण रखने के लिए, जो संख्या में बहुत ज्यादा थे, भावित का सहारा लिया। इसके परिणाम स्वरूप सेना पुलिस, जेल, न्यायालयों का जन्म हुआ । यहीं से राज्य अस्तित्व में आया। एंगेल्स के अनुसार, पुराने समय का राज्य गुलामों पर भाासन करने के लिए, गुलामों के मालिकों का राज्य था. सामन्तवादी राज्य किसानों तथा भूमि हीनों पर भासन करने के लिए कुलीनों का राज्य था तथा आधुनिक राज्य मजदूरों पर भाासन करने के लिए, पूंजीपतियों का भासन है । राज्य की उत्पत्ति वर्गों की उत्पत्ति के साथ ही हुई है तथा राज्य एक आर्थिक वर्ग के हाथ में, दूसरे आर्थिक वर्ग का भोशण करने के अधिकार को न्याय संगत बनाने में सहायक होता है। इसी प्रकार मार्क्स का मत है कि राज्य संपत्तिषाली वर्ग का संगठन है जो संपत्तिहीन वर्ग से इसकी सुरक्षा करता है।श

राज्य भोशण का यंत्र –

मार्क्स के अनुसार, राज्य भाासक वर्ग के हितों को सुरक्षित बनाए रखने का तथा अन्य वर्गों का भोशण करने का साधन मात्र है। पूंजीवादी व्यवस्था में राज्य पूँजीपतियों का संगठन है जिसका उद्देष्य श्रमिकों का भोशण करना है। इसलिए वह पूंजीपतियों की सम्पत्ति की सम्पत्ति और हितों की रक्षा की दृश्टि से कानूनों का निर्माण करता है और कानून का पालन करवाने के लिए पुलिस और न्यायालयों की व्यवस्था करता है। एंगेल्स के अनुसार, राज्य एक वर्ग के द्वारा, दूसरे वर्ग के दमन के लिए एक यंत्र है। इस प्रकार मार्क्स व एंगेल्स दोनों यह मानते हैं कि इतिहास में राज्य का जन्म उस समय हुआ जब समाज का विभाजन दो परस्पर विरोधी गुटों में हो गया, जिनके परस्पर विरोध हित थे। इस प्रकार राज्य वर्गीय संगठन है, जिसका जन्म वर्ग संघर्श के कारण हुआ है। राज्य का उद्देष्य एक वर्ग विषेश की प्रभुता बनाए रखना तथा उसे अन्य वर्ग के भोशण का अधिकार देना है । यह अमिकों के अतिरिक्त मूल्य को छीनने में पूँजीपतियों का सहायक है।

अंतरिम काल में सर्वहारा वर्ग का अधिनायकवाद मार्क्स के अनुसार सर्वहारा वर्ग, क्रान्ति द्वारा पूंजीपति वर्ग को नश्ट कर देगा और श्रमिकों की तानाषाही स्थापित को जाएगी। पूंजीवाद के अंत के बाद भी कुछ समय तक राज्य अस्तित्व में रहेगा क्योंकि वर्गहीन समाज की स्थापना एक ही दिन में नहीं हो जाएगी। इस अंतरिम काल में श्रमिकों का भासन स्थापित हो गया इस काल में राज्य की भाक्ति का प्रयोग, सर्वहारा वर्ग के द्वारा पूंजीवाद के विरोध को कुचलने और पूंजीवाद के अवषेशों को समाप्त करने के लिए किया जाएगा। पूंजीवाद की समाप्ति के लिए कुछ उपाय किए जाएगें, जिनमें से प्रमुख निम्नलिखित हैं–

1. जमींदारी उन्मूलन

2.सब प्रकार के उत्तराधिकार की समाप्ति

3. आय के साथ तेजी से बढ़ने वाला आयकर

4. संचार व परिवहन साधनों को राज्य के हाथ में केन्द्रीकरण

5. प्रत्येक के लिए श्रम करना समान रूप से अनिवार्य

6. निःषुल्क एंव सार्वजनिक स्कूली षिक्षा द्य

अपने लक्ष्य की प्राप्ति के लिए, सर्वहारा वर्ग को, राजनीतिक दल का गठन करके, राजनीतिक नियंत्रण अपने हाथ में लेना होगा।

राज्य का विलोप–

यह ऐसी स्थिति होगी, जिसमें राज्य की कोई आवष्यकता ही नहीं होगी। जब तक समाज में वर्ग बने रहेंगे, तब तक विषेश वर्ग के समर्थक राज्य की भी सत्ता बनी रहेंगी जब समाज में वर्ग समाप्त हो जाएंगे तो राज्य भी अपनी उपयोगिता खो देगा और धीरे–धीरे स्वतः ही लुप्त हो जाएगा। इस अवस्था में सब लोग अपनी योग्यता के अनुसार काम करेंगे तथा अपनी आवष्यकतानुसार प्राप्त करेंगे। जो काम करने लायक नहीं होंगे, उकने लिए सामाजिक सहायता और बीमें की व्यवस्था होगी। इसीलिए मार्क्स मानता है कि जैसे फूल सूखकर झड़ जाता है, उसी प्रकार राज्य रूपी व क्ष मुरझाकर स्वयं ही समाप्त हो जाएगा। इसके साथ ही दमन करने वाली अन्य संस्थाएँ भी समाप्त हो जायेंगी। इसीलिए एंगेल्स कहता है, श्वह युग आने वाला है, जब राज्य संग्रहालयों में रखने योग्य प्राचीन वस्तुओं चरखे या कांसे के कुल्हाड़े की भांति अतीतकाल की वस्तु बन जाएगा।

राज्य सिद्धान्त की आलोचना

मार्क्स राज्य के सकारात्मक स्वरूप की उपेक्षा करते हुए, केवल नकारात्मक पक्ष का अध्ययन करता है। उसके राज्य के सिद्धान्त की निम्नलिखित आधारों पर आलोचना की जा सकती है

1. राज्य कल्याणकारी संस्था है

मार्क्स ने राज्य को भोशण करेन वाली संस्था माना है, जबकि यह केवल आंषिक सत्य है। क्योंकि राज्य का प्रधान कार्य व्यक्ति के उत्तम जीवन के लिए उपयुक्त परिस्थितियाँ उत्पन्न करना है। पिछले लगभग अनेक वर्शों में अमरीका और पष्चिमी यूरोप के सभी देषों में श्रमिक कल्याण के लिए अनेक कानूनों का निर्माण किया है। इस प्रकार राज्य लोक कल्याणकारी संस्था के रूप में कार्य कर रहा है।

2. भांतिपूर्ण साधनों से परिवर्तन संभव

मार्क्स के अनुसार समाजवादी समाज की स्थापना के लिए पूंजीवादी राज्य के विनाष का एकमात्र साधन हिंसा है। जबकि अमरीका, इंग्लैण्ड, भारत जैसे देषों में भांतिपूर्ण एवं वैध साधनों से पूंजीवादी राज्य का समाजवादी राज्य में रूपान्तरण करने के प्रयत्न में लगे हुए हैं, भले ही वे ऐसा मार्क्स के साम्यवादी सिद्धान्त के भय से ही कर रहे हों ।

3. राज्य के विलोप की धारणां कल्पना मात्र –

मार्क्स के अनुसार, राज्य स्वयं ही समाप्त हो जाएगा, लेकिन सोवित संघ में इतने वर्शों तक भी राज्य समाप्त नहीं हुआ, इसके सथान पर साम्यवाद ही समाप्त हो गया। यद्यपि मार्क्स के राज्य सिद्धांत की आलोचना की गई है, परन्तु यह सिद्धांत इस रूप में महत्वपूर्ण प्रमाणित हुआ कि अनेक देषों ने साम्यवाद के भय से अपनी नीतियों को श्रमिकों के प्रति कल्याणकारी बनाया।

मार्क्स के अन्य विचार –

मार्क्स के अनुसार, क्रान्ति का अर्थ है सामाजिक, आर्थिक व्यवस्था में आधार भूत परिवर्तन होना द्य सामाजिक क्रान्ति से ही समाज का विकास होता है क्योंकि उसके द्वारा प्रतिगामी सामाजिक व्यवस्था का उन्मूलन किया जाता है और उसके स्थान पर नई प्रगतिषील सामाजिक व्यवस्था की स्थापना की जाती है । परन्तु यह परिवर्तन भाांतिपूर्ण तरीकों से संभव नहीं होगा। क्योंकि पूंजीवादी वर्ग कभी भी स्वेच्छा से उत्पादन के साधनों पर से अपना स्वामित्व नहीं छोड़ेगा और इसलिए हमें अपने उद्देष्य की प्राप्ति के लिए क्रान्ति के हिंसक साधनों का प्रयोग करना होगा।

मार्क्स के अनुसार, समाजवादी क्रान्ति तब होती है, जब राज्य की भाक्ति पर सर्वहारा वर्ग का अधिकार हो जाता है और उत्पादक भाक्ति श्रमिक वर्ग के हाथ में केन्द्रत हो जाती है। क्रान्ति एक सतत् प्रक्रिया है, जिसमें संक्रमण अवस्था के दौरान, सर्वहारा के अधिनायकवाद से राज्य हीन समाज की अंतिम अवस्था की दिषा में अग्रसर होने की अपेक्षा की जाती है। एंगेल्स का मत है, श्सब बातों से ऊपर, मार्क्स एक क्रान्तिकारी था और उसके जीवन का वास्तविक ध्येय किसी न किसी तरह से पूंजीवादी समाज को और इसके द्वारा अस्तित्व में लाई गई राज्य की संस्थाओं को उखाड़ फेंकना है ।

परिवार, धर्म और मार्क्स–

उंत–कंत

मार्क्स के साम्यवादी समाज में परिवार, सम्पत्ति और धर्म तीनों का ही कोई स्थान नहीं है । परिवार के लुप्त होने के साथ–साथ धर्म का भी लोप हो जाएगा। इस प्रकार समाजवादी राज्य में परिवार और धर्म दोनों की स्वाभाविक मष्त्यु हो जाएगी। परन्तु मार्क्स के ये विचार अब तक सत्य प्रमाणित नहीं हुए हैं। इस प्रकार उसके ये विचार अव्यावहारिक और काल्पनिक प्रतीत होते हैं। पूंजीवाद की प्रकृति या पूंजीवाद अपनी कब्र स्वयं खोदता है––

मार्क्स का मत है कि पूंजीवाद में ही इसके विनाष के बीज निहित है। पूंजीवाद के विकास के परिणामों का पांच नियमों के रूप में अभिव्यक्त किया जा सकता है, जिनसे यह स्पश्ट हो जाएगा कि पूंजीवाद अपनी कब्र स्वयं ही खोदता है। ये पांच नियम मार्क्स के अनुसार, पूंजीवाद में उत्पादन, मुनाफे के लिए होता है, मषीनों व उद्योगों का स्वामित्व पूंजीपतियों के हाथ में होता है और वे केवल लाभ कमाने के लिए अधिकतम उत्पादन करते हैं। पूंजीपति श्रमिकों को कम मजदूरी देते हैं और अतिरिकत मूल्य से मुनाफा कमाते हैं श्रमिकों का जितना अधिक भोशण होता है, उनमें उतनी ही जागरूकता आती है, जिसके कारण वे पूंजीवाद की समाप्ति हेतु प्रयत्नषील होते हैं। इस प्रकार पूंजीवाद स्वयं ही अपना विनाष करता है, जिसे पांच नियमों के माध्यम से समझा जा सकता है, जो निम्नलिखित है––

1. पूँजी संचय का नियम

पूंजीपति श्रमिकों के अतिरिक्त मूल्य को हड़प लेता है तो पूंजी संचय का नियम लागू हो जाता है। बाजार की प्रतियोगिता में छोटे पूंजीपति समाप्त हो जाते हैं और केवल बड़े पूंजीपतियों के हाथों में ही उत्पादन केन्द्रित हो जाता है, और पूंजी का केन्द्रीकरण (ब्वदबमदजतंजपवद व्ï्मंसजी) हो जाता है। जो पूंजीपति प्रतियोगिता में नहीं टिक पाते हैं, वे सर्वहारा वर्ग में भाामिल हो जाते हैं।

2. श्रमिकों के निरंतर बढत्रते हुए दुखों का नियम

जहाँ एक ओर कुछ लोगों के हाथों में पूंजी का संचय हो जाता है, वहीं दूसरी ओर असंख्य लोग निर्धन से निर्धनत्तर होते जाते हैं। तकनीकी ज्ञान में वद्धि होने से श्रमिकों की आवष्यकता में कमी होती है, उनकी स्थिति भी मषीन के पुर्जे की तरह ही हो जाती है। उनका दमन और भोशण बढ़ने लगता है, मजदूरी कम हो जाती है, इन सबके कारण उनके पास अपनी स्थिति को ठीक करने के लिए संगठित होकर क्रान्ति करने के अतिरिक्त कोई उपाय नहीं रहता ।

3. स्थानीय करण का नियम

इसका अर्थ कि उत्पादन के बड़े–बड़े कारखाने एक स्थान पर केन्द्रित हो जाते हैं, जिससे बड़े–बड़े नगरों का विकास होता है। लेकिन यह स्थानीयकरण भी श्रमिक संघर्श हेतु वरदान साबित होता है। एक ही स्थान पर इतने अधिक श्रमिक होने से उनमें अपनी समस्याओं के प्रति जागरूकता आती है और सहयोग सरल हो जाता है इसके कारण मजदूर सामूहिकहड़ताल करने में सफल होते हैं ।

4. आवर्ती आर्थिक संकट का नियम

पूंजीवाद में इतना अधिक उत्पादन किया जाता है कि आर्थिक मंदी की संभावना रहती है। उपभोक्ता उत्पादित वस्तु का अत्यंत सीमित भाग ही खरीद सकता है, जिससे उत्पादन इकट्ठा होता जाता है। इस प्रकार आर्थिक संकट का जन्म होता है। ऐसी स्थिति में पूंजीवाद सुरक्षा प्रदान नहीं कर पाता और श्रमिक क्रान्ति करने के लिए विवष हो जाता है।

5. विश्व बाजारों की माँग तथा साम्राज्यवाद

जब उत्पादन स्थानीय बाजार की आवष्यकता से अधिक हो जाता है, जब पूंजीपतियों की नजर अविकसित देषों के बाजारों पर होती है, जहाँ से वे कच्चा माल प्राप्त कर सकें और तैयार वस्तुएँ बेच सकें। इसके लिए यातायात और संचार साधनों का भी विकास होता है। लेकिन इस विकास के कारण श्रमिकों को अपने संघर्श को अन्तर्राश्ट्रीय स्तर पर संगठित करने का अवसर मिलता है जो संघर्श पहले राश्ट्रीय स्तर पर सीमित था, वह अंतर्राश्ट्रीय स्तर तक व्यापक हो जाता है। इसीलिए मार्क्स ने कहा है, श्बुर्जुआ स्वयं सर्वहारा वर्ग को उसके लड़ने के यंत्र प्रदान करता है ।

पूंजीवाद की प्रकृति के सिद्धान्त की आलोचना–– पूंजीवाद की प्रकृति के सम्बन्ध में मार्क्स की व्याख्या की निम्न आधारों पर आलोचना की जाती है–

1. पूंजीवाद की प्रकृति के बारे में मार्क्स की भविश्यवाणी गलत साबित हुई है। मार्क्स ने कहा था कि पूंजीवादी राश्ट्रों में संयुक्त पूंजी कम्पनियों के विकास से पूंजी के केवल कुछ हाथों में एकत्रित हो जाएगी, मार्क्स की भविश्यवाणी गलत सिद्ध हुई। इसका कारण यह है कि

संयुक्त पूंजी कम्पनियों के हिस्से मध्यम वर्ग और श्रमिक वर्ग के लोग भी खरीदते हैं।.

2. मार्क्स ने कभी यह कल्पना नहीं की थी कि पूंजीवाद में अपने आपको सुधारने और नई परिस्थिति के अनुरूप समझौता करने की प्रवष्त्ति है। यही कारण है कि 1929—30 में आर्थिक संकट

पूंजीवाद के लिए अभिषाप नहीं, वरदान सिद्ध हुआ ।

3. औद्योगिक और तकनीकी ज्ञान के साथ सर्वहारा वर्ग के सदस्यों की संख्या में व द्वि नहीं वरन कनी हुई है ।

4. मार्क्स राज्य के लोक कल्याणकारी स्वरूप की भी कल्पना नहीं कर सका। अतः उसकी यह भविश्यवाणी कि श्रमिकों के दुखों में निरंतर व द्धि होगी भी गलत प्रमाणित हुई। आज का श्रमिक कहीं अधिक सुविधा पर्ण जिंदगी व्यतीत कर रहा है।

5. मध्यम वर्ग के भविश्य की मार्क्स ने कोई कल्पना ही नहीं की, जबकि मध्यम वर्ग का महत्व बढ़ता ही जा रहा है।

मार्क्स की आलोचना

मार्क्स के विचारों और चिंतन के सम्बन्ध में दो विरोधी मत दिखाई देते हैं। एक ओर वह श्रमिकों का मसीहा है, जिसने श्रमिकों को मुक्ति का मार्ग दिखाया है। दूसरी ओर पूंजीपतियों के लिए वह मात्र है, जिसने पूंजीवाद के विनाष की घोशणा की है। कार्ल पॉपर, बर्नस्टीन और कीन्स जैसे अर्थषास्त्रियों ने उसकी आलोचना की है। मार्क्स के विचारों की निम्नलिखित आधारों पर आलोचना की जाती है—

1. आर्थिक मात्तियों को अत्यधिक महत्वपूर्ण मानना

मार्क्स ने यह स्वीकार किया है कि आर्थिक भात्तियाँ मानव मस्तिश्क से स्वतंत्र होकर कार्य करती हैं यदि मानव आर्थिक अवस्थाओं की उपज है तो वह उन आर्थिक अवस्थाओं का निर्माता भी हैं। मार्क्स यह भूल जाता है कि वह एक नैतिक प्रणाली है जिस पर केवल आर्थिक तत्वों का ही नहीं वरन विचारों, आदर्षों, धर्म, भावनाओं आदि का प्रभाव भी होता है

2. वर्गों का आधार, केवल आर्थिक नहीं

धर्म, जाति, व्यवसाय, भाशा आदि भी वर्ग का आधार होते हैं। इसलिए केवल आर्थिक आध र पर समाज में दो वर्ग बताना समाज को सही रूप में समझना नहीं है।

3. हिंसा को बढ़ावा देना

मार्क्स ने वर्ग सहयोग को कोई महत्व नहीं दिया है, वह वर्ग संघर्श को ही समाज के विकास का एकमात्र आधार मानता है। वह मानता है कि ष्बलष एक नए समाज को जन्म देने वाले, पुराने समाज की दाई है।श वह भांतिपूर्ण तरीकों से समाज में परिवर्तन या सुधार की कल्पना ही नहीं करता। वह क्रान्ति को ही परिवर्तन का आधार मानता है ।

4. इतिहास की व्याख्या उचित नहीं

एवन्टन के अनुसार, मार्क्स की सबसे बड़ी भूल यह है कि पूंजीवाद के पिछले 100 वर्श के आधार पर उसने समूचे इतिहास को पांच युगों में विभाजित किया है, जिसे उचित नहीं कहा जा सकता ।

5. पूंजीवाद के संबंध में गलत भविश्यवाणियाँ

मार्क्स ने कहा था कि पूंजीवाद का अंततः विनाष होगा क्योंकि उसमें विनाष के बीच स्वयं निहित है। मार्क्स की यह भविश्यवाणी सही साबित नहीं हुई। तार्क्स पूंजीवाद के लचीलेपन और कल्याण कारी स्वरूप का आकलन हनीं कर सका। जबकि पूंजीवाद ने श्रमिकों के लिए कल्याणकारी योजनाओं के माध्यम से स्वयं को अधिक भाक्तिषाली बना लिया है। इसलिए पूंजीवाद के विनाष के कोई लक्षण नहीं दिखाई देते।

6. अधिनायकवाद को प्रोत्साहन देना

मार्क्स ने अंतरिम काल में सर्वहारा वर्ग के अधिनायकबाद की कल्पना की है। अधिनायकवाद को किसी भी दृष्टि से उचित नहीं माना जा सकता। सोवित रूस और चीन में साम्यवादी क्रान्ति के कारण जो सरकारें अस्तित्व में आई, उन्होंने चाहे अनेक क्षेत्रों में प्रगति की हो, लेकिन वहाँ के नागरिक व्यक्तिगत स्वतंत्रता से वंचित ही रहे ।

7. क्रान्ति का विचार हानिकारक

क्रान्ति द्वारा किए गए परिवर्तन, भांति विरोधी तो होते ही हैं स्थायी भी नहीं होते। पॉपर के

अनुसार, श्व्यावहारिक राजनीति के दृश्टिकोण से हिंसात्मक क्रान्ति की भविश्यवाणी मार्क्सवाद में संभवतः सबसे अधिक हानिकारक तत्व हैं हांलाकि माक्स निर्धनों का उत्थान चाहता है, परन्तु क्या सर्वहारा वर्ग के नेता, क्रान्ति की आड़ में, अपने अत्याचारों को नहीं छिपाएगें।

ठ. धर्म विरोधी

मार्क्स के चिंतन में धर्म के लिए कोई स्थान नहीं है। उसने धर्म को जनता के लिए ष्अफीमष कहा है। एक ओर वह धर्म की उपेक्षा करता है, जो प्रत्येक समाज में महत्वपूर्ण स्थान रखता है, दूसरी ओर मार्क्सवाद के प्रति कट्टरता दिखाई देती है ।

9. राज्य के सम्बन्ध में मिथ्या विचार

राज्य कोई अस्थायी संगठन नहीं है, जिसका लोप हो जाएगा। राज्य वर्गीय, दमनकारी संस्था नहीं वरन स्वाभाविक अनिवार्य, नैतिक, कल्याणकारी संस्था है । सोवित रूस व चीन जैसे साम्यवादी राज्यों में राज्य की भाक्तियां दिन प्रतिदिन बढ़ती ही गई और राज्य के विलोप होने का तो प्रष्न ही नहीं है। ऐसा प्रतीत होता है कि मार्क्सवाद अगले दरवाजे से राज्य को बाहर निकालता हे और पिछले दरवाजे से उसे वापस ले आता है।

10. मौलिकता का अभाव

मार्क्स ने अपने विचारों को अन्य विचारकों से हो ग्रहण किया है अतः उसमें मौलिकता का अभाव था। इसके साथ ही यह भी कहा जाता है कि उसका सम्बन्ध मजदूरों से बहुत कम था। उसे उनकी स्थिति का ज्ञान ब्रिटिष म्यूजियम के पुस्तकालय में बैठकर सरकारी रिपोटों और पुस्तकों से हुआ था उसका सम्बन्ध मजदूरों से कम, बद्धिवादी निर्वासित अंतर्राश्ट्रीय शड़यंत्रकारियों से अधिक था ।

मार्क्स का योगदान.

मार्क्स केवल एक चिंतक ही नहीं था वरन महानतम क्रान्तिकारी भी था । उसका यह कथन क्रांति का आह्वान करता है, श्दार्षनिकों ने अब तक विश्व की व्याख्या की है, सवाल यह है कि इसे बदला कैसे जाए । मार्क्सवाद आधुनिक युग का अत्यधिक प्रभावषाली एवं वैज्ञानिक दर्षन है मार्क्स के विचारों ने संपूर्ण विश्व को सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक क्षेत्र में जितना प्रभावित किया, अन्य किसी विचारक ने नहीं। मार्क्सवाद तथ्यों पर आधारित है और प्रेरणा भाक्ति और उत्साह देने वाला है इसलिए मेकसी का कथन है; श्मार्क्स ने साम्यवाद को केवल वैज्ञानिक आधार ही प्रदान नहीं किया वरन उसे विषाल भाक्ति भी प्रदान की ।श लेनिन के अनुसार, ष्केवल मार्क्स के भौतिकवादी दर्षन ने ही सर्वहारा वर्ग को उस आत्मिक दासता से मुक्ति पाने का मार्ग दिखाया है जिसमें सभी उत्पीड़ित वर्ग अब तक सिसकते हुए दिन काट रहे थे।श मार्क्स की विश्व को अमिट देन के कारण, मार्क्स का कटु आलोचक भी उसकी प्रषंसा किए बिना नहीं रह सकता। मार्क्स ने अनेक महत्वपूर्ण सत्यों की खोज की और उस भविश्य को देखा, जिसे अब तक कोई चिंतक नहीं देख पा रहा था। मार्क्स ने ही यह बताया कि इतिहास के अध्ययन में आर्थिक तत्वों की उपेक्षा की गई है और इतिहास के अध ययन की नई दिषाओं को खोल दिया। मार्क्स ने ही राजनीतिक और कानूनी संस्थाओं व आर्थिक प्रणाली में पारस्परिक निर्भरता सिद्ध की। उसने समाजवाद को व्यवहारिक एवं वैज्ञानिक स्वरूप प्रदान किया । मार्क्स के समय में सभी समाजवादी या तो मार्क्स समर्थक थे या मार्क्स विरोधी । किसी भी एक व्यक्ति या उसके चिंतन को सम्पूर्ण विश्व में इतना अधिक महत्व पहले कभी नहीं मिला। मार्क्स के विचारों के आधार पर विश्व में सोवित संघ, चीन और पूर्वी यूरोप में साम्यवादी सरकारें अस्तित्व में आई और विश्व के अनेक देषों में साम्यवादी दल बने । इतिहास में ऐसा अन्य कोई उदाहरण नहीं मिलता।

मार्क्स का यह द द विश्वास था कि पूंजीवाद का पतन निष्चित है और भविश्य साम्यवाद का है मार्क्स के इन वाक्यों ने विश्व के मजदूरों एक हो जाओ। विजय के लिए सम्पूर्ण विश्व तुम्हारे सामने हैं तुम्हें अपनी जंजीरों के अतिरिक्त कुछ नहीं खोना है। श्श्रमिक वर्ग में अपूर्व भाक्ति एवं ऊर्जा का संचार किया । मार्क्स की रचनाओं के कारण, समाज को निम्न वर्ग के बारे में सोचने और उसका विकास करने के लिए बाध्य होना पड़ा। पूंजीवादी राश्ट्रों ने मजदूरों की दषा सुधारने के लिए जो कदम उठाए, वे स्वेच्छा से नहीं उठाए थे। साम्यवादी क्रांति के भय ने ही इन्हें सदाचारी बनाया था आज श्रमिक जिस तरह कारखाने के मिालिकों को भातें मानने के लिए बाध्य करने का साहस रखते हैं। यह उनकी वर्ग चेतना का ही साद परिणाम है जिसका आरम्भ मार्क्स व एंजिल्स ने 1964 में अंतराश्ट्रीय श्रमिक संघ के निर्माण द्वारा किया था। मार्क्स के सिद्धान्तों को 19वीं व 20वीं माताब्दी में जितनी लोकप्रियता एंव सफलता मिली, उतनी अन्य किसी विचारधारा को नहीं मिली। आज दुनिया के कारोड़ों लोग मार्क्स के अनुयायी हैं। सभी देषों में साम्यवादी दल सक्रिय हैं और सभी सरकारें किसी न किसी रूप में समाजवादी नीतियाँ अपनाने की कोषिष कर

रही हैं मार्क्स के लिए यह कहा जाता है कि उसके विचारों को स्वीक त या अस्वीक त किया जा सकता है, किन्तु वास्तविकता यह है कि जब तक वर्ग भोशण और अंधविश्वास है, तब तक मार्क्स का औचित्य बना रहेगा ।

अभ्यास–प्रष्न

1. काले मार्क्स की संक्षिप्त जीवनी लिखें ।

2. मार्क्स के द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद के सिद्धान्त का आलोचनात्मक मूल्यांकन कीजिये ।

3. मार्क्स के वर्ग संघर्श के वर्ग संघर्श के सिद्धान्त की विवेचना कीजिये ।

4. मार्क्स का अतिरिक्त मूल्य का सिद्धान्त राजनीतिक तथा सामाजिक महत्व का है, आर्थिक महत्व

का नहीं । व्याख्या करें। .

5. मार्क्स के विचारों का आलोचनात्मक परीक्षण कीजिये ।

इकाई – 18

हैराल्ड जोसेफ लास्की

(H-J- Laski)

संक्षिप्त जीवन परिचय

लास्की का जन्म 30 जून, 1983 को इंग्लैंड के एक यहूदी

. परिवार में हुआ। लास्की ने 1911 ई. में एक ईसाई लड़की फ्रीडा कैरी से विवाह कर लिया। फलतः क्रुद्ध होकर उसके पिता ने लास्की पर कठोर आर्थिक नियंत्रण लगा दिये, लेकिन लास्की का अध्ययन जारी रखां 19920 में फ्रीडा ने यहूदी धर्म स्वीकार कर लिया और अपने सास– श्वसुर को संतुश्ट कर दिया। 1914 में लास्की ने ऑक्सफोर्ड से इतिहास में एम.ए. की परीक्षा उत्तीर्ण की। इसके बाद कनाडा के मैकगिल विश्वविद्यालय में इतिहास के व्याख्याता नियुक्त हो गये। 1920 में इंग्लैंड में लन्दन स्कूल ऑफ इकॉनामिक्स में व्याख्याता तथा बाद में वहाँ राजनीति भास्त्र के प्रोफेसर नियुक्त हुए। सन् 1950 तक वें इस पद पर आसीन रहे । 56 वर्श की आयु में सन् 1950 में उनका स्वर्गवास हो गया। एक विचारक, व्याख्याता तथा श्रमिक दल के नेता के रूप में लास्की ने अत्यधिक प्रतिभा अर्जित की। लास्को सहमति के साथ क्रान्ति का पक्षपाती था । वह मार्क्सवादी वैज्ञानिक पद्धति तथा समाजवाद में विश्वास रखते हुए भी इंग्लैण्ड की उदारवादी परम्पराओं से अपने को मुक्त नहीं कर सका। वह मानवतावादी, व्यक्तिवादी था । उसने हिंसावाद, सर्वसत्तावाद का विरोध तथा अनतंत्र का समर्थन किया। कैटलिस द्वारा उसे ष्मध्यमवर्गीय षिक्षितों के बीच मार्क्सवाद की विक्रेता कहा। वह ब्रिटिष मजदूर दल का अध्यक्ष भी रहा तथा प्रजातांत्रिक समाजवाद का समर्थक रहा ।

प्रमुख रचनाएँ – (1) ए ग्रामर ऑफ पॉलिटिक्स (1925) (2) स्टडीज इन दी प्रॉब्लम ऑफ सोवरेन्टी (1917) (3) ऑथरिटी इन दि मॉडर्न स्टेट (4) कार्ल मार्क्स (1921) (5) सोषलिज्म एण्ड फ्रीडम (6) कम्युनिज्म (1927) (7) लिबर्टी इन दि मॉडर्न स्टेट (1930) (8) व्हेयर सोषलिज्म स्टेण्ड्स टुडे? (1933) (9) डेमोक्रेसी इन क्राइसिस (1933) (10) पार्लियामेन्ट्री गवर्नमेंट इन इंग्लैण्ड (1938) (11) दि स्टेट इन थ्योरी एण्ड प्रेक्टिस (1934) (12) राइज ऑफ दि यूरोपियन लिबरलिज्म (1936) (13) एन इन्ट्रोडक्षन टू पॉलिटिक्स (14) फाउन्डेषन ऑफ सोवरेन्टी (15) दि डिलेमा ऑफ अवर टाइम्स ।

लास्की पर प्रभाव

लास्की के विचारों पर निम्न परिस्थितियों, विचारों एंव व्यक्तियों का प्रभाव पड़ा––

(1) औद्योगिक क्रान्ति (2) पूँजीवादी, उपनिवेषवाद, साम्राज्यवाद, लोकतंत्र, साम्यवाद आदि का मिश्रित प्रभाव (3) इंग्लैण्ड का उदारवादी चिंतन का प्रभाव (4) लिडसे, वाकर तथा माहम वालास का प्रभाव (5) श्रमिक आन्दोलन का प्रभाव (6) कार्ल मार्क्स के चिंतन का प्रभाव आदि ।

प्रमुख राजनैतिक विचार–राज्य की प्रकृति तथा संप्रभुता – सामज राज्य से उच्चतर है। राज्य अन्य मानवीय समुदायों की भाँति एक समुदाय है तथा अन्य समुदायों में प्रथम है।

बहुलवादी विचारक होने के कारण लास्की राज्य को भाक्ति का दमनकारी नहीं मानता। राज्य समस्त भाक्तियों का स्रोत नहीं है तथा संप्रभुता असीमित नहीं है। राज्य अन्ततः संप्रभु नहीं है। राज्य का निर्माण भी व्यक्ति द्वारा अपने हितों की पूर्ति के लिए हुआ है।

1938 के बाद उसके विचारों में मार्क्सवादी प्रभाव दिखाई देता है। मार्क्स की तरह लास्की ने भी कहा कि राज्य समाज में एक विषिश्ट वर्ग के हितों की सुरक्षित रखने के लिए संगठन मात्र है, वह विषिश्ट वर्ग के हितों की रक्षा का एक साधन है।

लेकिन लास्को ने श्रमजीवी तानाषाही का विरोध किया । लास्की हिंसक क्रान्ति का समर्थक नहीं है ।

अधिकारों के सम्बन्ध में लास्की के विचार राज्य अधिकारों को उत्पन्न नहीं करता.

बल्कि उन्हें स्वीकार करता है। लास्की के भाब्दों में, "अधिकार वे भाते हैं जिनके अभाव में व्यक्ति अपने सर्वोत्तम हित की खोज नहीं कर सकता ।श राज्य को अधिकारों की व्यवस्था करनी ही चाहिए। यदि राज्य अधिकार नहीं देता तो उसे आज्ञाकारिता भी प्राप्त करने का अधिकार नहीं है। अधिकार राज्य के साथ उत्पन्न होते हैं सारा इतिहास अधिकारों की प्राप्ति का संघर्श है। लास्की अधिकारों को कहीं भी प्राकृतिक नहीं कहता। वह अधिकारों का अस्तित्व उपयोगिता में मानता है।

लास्की के भाब्दों में, श्राज्य अधिकारों का निर्माण नहीं करता बल्कि उन्हें मान्यता प्रदान करता है तथा उसकी प्रकृति उन अधिकारों से स्पश्ट होती है जिन्हें वह खास समय में मान्यता प्रदान करता है ।श्श अधिकारों के उपयोग के लिए महत्वपूर्ण भार्ते हैं– (प) राज्य को विकेन्द्रित होना चाहिए (पप) केन्द्र सरकार के चारों ओर परामर्षदात्री समितियाँ हों तथा (पपप) अन्य संघों के आंतरिक जीवन में राज्य अनावष्यक हस्तक्षेप न करें।

लास्को के अनुसार अधिकारों की पूर्व भातें हैं– कानून, संस्था तथा राज्य ।

लास्की का स्वतंत्रता तथा समानता सम्बन्धी दृश्टिकोण लास्की सकारात्मक स्वतंत्रता का समर्थक है। उसके अनुसार, श स्वतंत्रता उस वातावरण को बनाए रखने में है जिसके अन्तर्गत व्यक्ति अपने चरम विकास की स्थिति को प्राप्त कर सकता है।श बिना अधिकरों की स्वीक ति के स्वतंत्रता केवल एक नारा है। लास्की स्वतंत्रता के तीन पक्षों की ओर संकेत करता है– (1) व्यक्तिगत (2) राजैतिक (3) आर्थिक आत्महत्या स्वतंत्रता का भीशण दुरूपयोग है।

स्वतंत्रता की रक्षा के लिए समानता एक आवष्यक भार्त है। समानता से अभिप्राय है– समाज में कोई भी विषिश्ट सुविधाओं से युक्त वर्ग नहीं होगा ।

मार्क्सवादी विचार – लास्की ने मार्क्स के द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद तथा मार्क्स द्वारा प्रस्तुत पूँजीवाद समाज के विष्लेशण तथा वर्ग–विहीन समाज के सिद्धान्तों को स्वीकार किया लेकिन उसने मार्क्स के इतिहास का भौतिकवादी विवेचन, अतिरिक्त मूल्य का सिद्धान्त, हिंसक क्रान्ति का सिद्धान्त को स्वीकार नहीं किया। वह लोकतांत्रिक समाजवादी विचारकों को समर्थक था । संवैधानिक व लोकतांत्रिक साधनों द्वारा समाजवाद की स्थापना करना चाहता था । उसने श्रमिकों की तानाषाही को स्वीकार नहीं किया ।

पूँजीवाद व साम्यवाद के दोशों व संकीर्णता से दूर रह कर, लोकतान्त्रिक समाजवाद की उदार विचारधारा का प्रतिपादन करने वाले यूरोप के विचारकों में प्रो० हैराल्ड जोसेफ लास्की (1993–1950) का प्रमुख स्थान है। एक षिक्षक के रूप में उसने सर्वत्र गहरी छाप डाली और अपने छात्रों का अगाध प्रेम अर्जित किया लास्की एक प्रभावषाली व्याख्यता, प्रख्यात राजनीतिक विचारक तथा ब्रिटिष लेबर पार्टी का मुख्य परामर्षदाता था ।

वह एक महान लेखक था और उसने सैकड़ों लेखों के अतिरिक्त, लगभग 25 ग्रन्थ लिखे । इन ग्रन्थों में उसने राजनीति की समस्याओं व सिद्धान्त, साम्यवाद, समाजवाद, स्वतंत्रता, समानता, राजनीतिक विचारों का इतिहास, फ्रांस की राज्य क्रान्ति, अमेरिकन संविधान आदि पर विस्त त तथा सुरुचिपूर्ण ढंग से अपने विचार प्रस्तुत किये।

लास्की के प्रमुख राजनीतिक विचार (Main Political Ideas of Laski)

हेराल्ड लास्की के राजनीतिक विचार सैद्धान्तिक एव व्यावहारिक दोनों दृश्टियों से महत्वपूर्ण हैं। समकालीन परिस्थितियों, घटनाओं एवं विचारों के प्रभाव के कारण उसकी विचारधारा में परिवर्तन होते रहे हैं। लास्की के मुख्य राजनीतिक विचारों का अध्ययन निम्नलिखित भीर्शकों के अन्तर्गत किया जा सकता है–

(1) लास्की के बहुलवादी विचार (संपजे अपमू वद चसनतंसपेउ) – लास्की ने इस मत को अस्वीकार किया है कि राज्य एवं समाज एक है। उसने राज्य की अपेक्षा सामाजिक सत्ता को सर्वोच्च माना है। उसके मतानुसार, अन्य समुदाय की तरह राज्य भी एक संस्था है। उसके अनुसार, समाज में समुदायों की स्थिति स्वाभाविक है और जीवन दर्षन तथा भाासन–व्यवस्था पर उनका पूरा प्रभाव पड़ता है। राज्य और भासन के बाहर भी कुछ भाक्तिषाली भाक्तियाँ होती हैं, जिनकी उपेक्षा भारी विनाष का कारण बन सकती है। तब यह स्वाभाविक परिणाम निकलता है कि राज्य. एक सामाजिक संस्था से अधिक उपयोगी और भाक्तिषाली नहीं है । प्रत्येक संस्था अपने–अपने ढंग से उपयोग व ग्राह्य है। राज्य श्बराबरी वालों के प्रमुख कहा जा सकता है। राज्य समाज की महत्वपूर्ण स्थिति है, न कि सामाजिक ढाँचे का सर्वोच्च षिखर। राज्य को उच्च स्थान देने का अभिप्राय यह नहीं माना जा सकता कि वह अधिक भाक्तिषाली या अनन्त है। अन्य सामाजिक उपयोगी संस्थाओं की तरह वह भी एक संस्था है।

लास्को ने आरंभिक ग्रंथ

समाज का संघात्मक स्वरूप में अपने बहुलवादी विचारों को स्पश्ट करते हुए लिखा है कि कृराज्य को अद्वैत सिद्ध करने के लिए उसे वष्तों का वष्त कहा जाता हैं और जैसे ही हम व्यक्ति से परिवार की ओर परिवार से गाँव की ओर गाँव से नगर की ओर, नगर से देष की ओर अन्त में सबको समाहित करने वाले राज्य की ओर जाते हैं, एक वष्त दूसरे को आच्छादित करता जाता है । इस प्रकार राज्य को एक केन्द्रीकृत व्यक्तित्व का रूप दे दिया जाता है।श लेकिन यदि राज्य के अन्य समुदायों की रचना का भी विष्लेशण किया जाये तो ऐसा प्रतीत होगा कि सामुदायिक जीवन व्यतीत करने वाला प्रत्येक समूह इसी प्रकार से अपने अलग वष्त का निर्माण कर लेता है जो अपने निर्माणकारी अंगों से भिन्न होता है। और अगर यह सही है तो राज्य के अन्दर ऐसे अद्वैतवादी समुदायों की संख्या बहुत है। उदाहरण के लिए क्लैब, ट्रेड यूनियन, चर्च, समाज, नगर, देष, विश्वविद्यालय आदि। इनमें

से प्रत्येक में सामुदायिक जीवन है। इनमें से प्रत्येक की दूसरे समुदाय से अपनी पष्थक् कार्यप्रणाली है और सभी एक–दूसरे से स्वतंत्र हैं। वे राज्य इस प्रकार के साथ सम्बन्धित हो सकते हैं, लेकिन राज्य का प्रतिनिधित्व नहीं करते हैं। राज्य इस प्रकार एक विकेन्द्रित सत्ता है, न कि केन्द्रीकृत । प्रत्येक समुदाय की अपनी प्रकृति होती है और उसका मूल्यांकन होता है और उसके मूल्यांकन में न राज्य का मूल्यांकन होता है। अतः राज्य अनेक समुदायों में से केवल एक समुदाय है, इसलिए उसके प्रति सभी की अधीनता का प्रष्न ही पैदा नहीं होता। इस प्रकार लास्की ने समाज को स्वरूप, कार्य तथा गुणों से संघात्मक माना है। इस सम्बन्ध में उसने निम्न तर्क दिये हैं––

राज्य, विभिन्न समुदायों में से किसी का भी काम बिना व्यक्तियों की सहायता व सक्रिय सहयोग के नहीं संभाल सकता।

अगर राज्य किसी विषिश्ट उद्देष्य के कारण अस्तित्वपूर्ण है तो अन्य समुदायों का भी अपना–अपना उद्देष्य होता है और ये उन उद्देष्यों को पूरा करने के लिए ही अस्तित्वपूर्ण हैं।

समाज का निर्माण विभिन्न समुदायों के मेल से होता है और विभिन्न समुदायों का निर्माण व्यक्ति की तीन मूलभूत प्रवषत्तियों के कारण होता है। ये तीन प्रवषत्तियाँ हैं–साथ में रहने की प्रवषत्ति, संगठित होने की प्रवषत्ति तथा प्रेम व सहानुभूति की प्रवषत्ति । इन विभिन्न प्रवषत्तियों को सन्तुश्ट करने के लिए अनेक प्रकार के समुदायों का निर्माण होता है।

सभी समुदाय अपने–अपने क्षेत्रों में प्रायः स्वतंत्र होते हैं और राज्य केवल इन क्षेत्रों के बीच समन्वय स्थापित करता है। विभिन्न हित समाज में तभी कायम रखे जा सकते हैं जबकि सत्ता विभिन्न समूहों में विकेन्द्रित रहे क्योंकि समाज की प्रकृति संघात्मक है।

विभिन्न प्रकार के समुदाय समाज को उसके उद्देष्य को पूरा करने में सहयोग करते हैं और अपने सहयोग के अनुपात में अपनी स्वयात्तता का दावा करते हैं। भक्ति के द्वारा उनके बीच एकल पैदा नहीं किया जा सकता है।

समुदायों की कार्यप्रणाली एक–दूसरे से प थक् होती हैं और राज्य इनमें से किसी का प्रतिनिधित्व नहीं करता ।

व्यक्ति विभिन्न समुदायों के प्रति आश्रित पहले है और राज्य के प्रति बाद में ।

राज्य अन्य समुदायों की तरह ही समुदाय है।

• इस प्रकार लास्की न समाज को संघात्मक न केवल अपने स्वरूप में माना बल्कि उसके कार्य और गुणों में भी माना है। लेकिन जब वे समाज को संघात्मक कहते हैं और राज्य की सत्ता को उन पर सर्वोपरि नहीं मानते तो उनका तात्पर्य अराजकतावादी समाज के निर्माण से नहीं है, बल्कि राज्य के द्वारा यह स्वीकार कराना है कि वह अपनी इच्छा को डण्डे के बल पर किसी समुदाय पर नहीं लाद सकता और यह कि उसे अपने महत्वपूर्ण कार्य के कारण अन्य समुदायों के स्थान व कार्यों को उपेक्षित नहीं कर सकता, न ही उन्हें अपने आश्रित समझ सकता है।

लास्की के बहुलवादी विचारों में परिवर्तन – धीरे–धीरे लास्की के बहुलवादी विचारों में भी परिवर्तन आता गया है। जिस प्रकार उनके व्यक्तिवादी विचारों में समय के साथ परिवर्तन

हुआ है, उसी प्रकार समाज, समुदाय और राज्य विशयक विचारों में भी परिवर्तन हुआ। कोकर ने तो यहाँ तक कहा है कि बहुलवादी लास्की अन्त में सत्तावादी लास्की बन गया है।

(2) संप्रभुता के सम्बन्ध में लास्की के विचार अपने ग्रन्थ ष्ग्रामर ऑफ पोलिटिक्सष में लास्की ने निरंकुष भासिन के स्थान पर बहुलवादी सिद्धान्त का समर्थन किया है। उसने बोदां, हॉब्स, ऑस्टिन आदि विचारकों के राज्य के एकलवादी (डवदेंजपब) सिद्धान्त पर आक्रमण करते हुए इस विचार को अस्वीकार किया है कि राज्य सभी भाक्तियों को स्रोत है तथा वह नैतिकता एवं कानून से परे है। ऑस्टिन की आलोचना करते हुए लास्की ने कहा है कि कोई भी राज्य अपने नागरिकों पर असीमित एवं निरंकुष भाक्ति का प्रयोग नहीं कर सकता । लास्की ने हेनरी मैन के इस कथन का समर्थन किया है, श्ऐतिहासिक दृश्टिकोण से ऑस्टिन का सिद्धान्त मूर्खता की सीमा तक काल्पनिक है। लास्की के संप्रभुता संबंधी विचारों को निम्नलिखित बिन्दुओं के अन्तर्गत स्पश्ट किया गया है

राज्य को व्यक्ति की निश्ठा प्राप्त करने का केवल वहीं तक

अधिकार है जहाँ तक उसकी अन्तरात्मा सहमत है। राज्य के सामान्य हित की रक्षा करने के दावे को भी लास्की स्वीकार नहीं करता । व्यक्ति राज्य के प्रति इस आधार पर तभी निश्ठावान होगा, जबकि उसे पूर्ण विश्वास हो जाये कि राज्य वास्तव में सामान्य हित एवं लोक–कल्याण का पोशक है। दूसरे भाब्दों में, व्यक्ति हो ही यह निर्णय लेना है कि सरकार के कार्य उचित हैं या नहीं !

कानून एवं अन्तर्राश्ट्रीय दृश्टिकोण से सम्प्रभुता सिद्धान्त की आलोचना ऑस्टिन कानून को सम्प्रभु का आदेष मानता है। लास्की के मतानुसार, कानून सम्प्रभु की आज्ञा मात्र नहीं है, वरन् यह परम्पराओं एवं रीतिरिवाजों द्वारा भी निर्मित होता है और उसका पालन स्वयं के कारण होता हैं बाह्य रूप से एक सर्वोच्च और स्वाधीन सम्प्रभुता सम्पन्नराज्य का विचार मानवता के हितों के प्रतिकूल है। लास्की के मतानुसार, सम्प्रभुता के सिद्धान्त को राजनीति से निकालना मानवता एवं अन्तर्राश्ट्रीय भाान्ति के हित में होगा । श्रैजनकपमे पद जीम च्तवइसमउे वॅिवअमतमपहदजलश में लास्की ने लिखा है कि श्राज्य अन्ततः संप्रभु नहीं है, समाज सर्वत्र समूह पाये जाते हैं जो उसकी सर्वोच्चता को चुनौती देते रहते हैं ।

लास्की का मानना है कि

(पपप) राज्य सामाजिक संगठन का सर्वोच्च षिखर नहीं समाज के विविध हित समूहों के मध्य सन्तुलन एवं सामञ्जस्य बनाए रखने का ऐतिहासिक दायित्व राज्य का है। इसी कारण लास्की राज्य को बराबर के समूहों में प्रथम कहता है। इस प्रकार लास्की राज्य को समाज का एक महत्वपूर्ण संगठन तो मानता है, लेकिन वह उसे सामाजिक संगठन का सर्वोच्च षिखर नहीं मानता। उसका मानना है कि समाज के विविध समूह व्यक्ति के कल्याण

के लिए कार्य करते हैं, राज्य भी उनमें से एक है। अतः समाज की समस्त भाक्ति संघात्मक होती है।

(पअ) समान तथा राज्य में अन्तर – लास्की समाज और राज्य को एक समझने की

भूल नहीं करते जो परम्परावादी संप्रभुता सिद्धान्त के प्रणेता हॉब्स और आस्टिन ने की। वह समाज और राज्य में अन्तर स्पश्ट करते हुए कहते हैं कि राज्य मानव की समस्त गतिविधियों पर नियंत्रण नहीं रखता। राज्य तथा समजा में अन्तर है, लेकिन यह इसके समरूप नहीं है। इसे समझ लेना अत्यधिक अवष्यक है।

(अ) संप्रभुता को सीमित होना आवष्यक है लास्की का मत है कि किसी भी राज्य को अनुत्तरदायी होने का अधिकार नहीं दिय जा सकता। समय–समय पर चुनाव होते रहने चाहिए ताकि जनता को वर्तमान सरकार की सफलताओं और असफलताओं का मूल्यांकन करने का अवसर मिले। किसी भी एक दल को सदैव सत्तारूढ़ रहने का अधिकार नहीं दिया जा सकतां क्योंकि भावित सदाचारी लोगों को भी भ्रश्ट कर देती है । नास्की के भाब्दों में, ''सरकार के केवल वे ही कार्य उचित माने जाएंगे जो जन अधिकारों की रक्षा करते हो ।

(ब) समाज का स्वरूप संघात्मक है इसलिए संप्रभुता श्री संघात्मक होनी चाहिए लास्की के अनुसार मनुश्य एक राजनैतिक प्राणी है, इसलिए उसने राज्य संस्था को जन्म दिया, परन्तु साथ ही उसने अपने आर्थिक, सांस्क तिक व धार्मिक लक्ष्यों के लिए बहुत से संघों व समुदायों का भी निर्माण किया है। राज्य बहुत से समुदायों में से केवल एक समुदाय हैं मानव की राज्य के साथ–साथ अन्य समुदायों के प्रति भी वफादारी होती है। राज्य मनुश्य की सानुदायिक भावनाओं की त प्ति नहीं करता, न ही राज्य इसे पैदा करता है। ये समुदाय राज्य के ऊपर आश्रित नहीं रहते। इस प्रकार लास्की समूह तथा समुदायों को महत्वपूर्ण, वास्तविक तथा राज्य से स्वतंत्र मानते हैं। इस प्रकार के समुदाय सदस्यों के लिए उतने ही प्राकृतिक हैं जितना कि राज्य, यद्यपि वे अपने सदस्यों को राज्य की तरह भाारीरिक दण्ड नहीं दे सकते। अतः लास्की के अनुसार समाज का स्वरूप संघात्मक है। राज्य भी एक समुदाय है और अन्य समुदायों के समान सामाजिक जीवन का एक अंग है । अतः राज्य की भाक्ति अन्य समूह के ऊपर या उनसे बढ़कर नहीं होनी चाहिए, बल्कि सभी समूहों को अपने–अपने कार्य के महत्व के अनुसार सत्ता के प्रयोग में हिस्सा मिलना चाहिए। लास्की के भाब्दों में ''चूँकि राज्य का स्वरूप संघात्मक है, इसलिए सत्ता का स्वरूप भी संघात्मक होना चाहिए।

(स) कानून को केवल राज्य का आदेष कहना अषिश्टता है – ऑस्टिन के अनुसार, कानून राजसत्ताधारी का एक आदेष मात्र है, लेकिन लास्की ऑस्टिन की इस धारणा को स्वीकार नहीं करता है। उसके अनुसार ऑस्टिन का संप्रभुता सिद्धान्त हमें उस निरंकुष राजतंत्र की याद दिलाता है, जब राजा कानूनों के ऊपर माना जाता था। आधुनिक लोकतंत्रीय देषों में कानून का पालन करना केवल जन– साधारण के लिए ही नहीं, बल्कि उन लोगों के लिए भी जरूरी है, जिन्होंने उसका निर्माण किया है। इसके अतिरिक्त, बहुत से कानून लोकाचार और रीति–रिवाज पर भी आधारित होते हैं। व्यवहार में सभी कानून आदेषों पर आधारित हो ही नहीं सकते

सीमिति संप्रभुता का समर्थन – लास्की संप्रभुता के स्थान पर सत्ता शब्द का प्रयोग करते हैं और लोकतांत्रिक राज्य में सीमित सत्ता के पक्षधर हैं। एक प्रजातांत्रिक राज्य में सत्ता का आधार है– नागरिकों की सहमति और यह सहमति समय–समय पर चुनावों द्वारा व्यक्त की जाती है। लास्की यह भी कहता है कि एक प्रजातांत्रिक सरकार का आधार है कि नागरिक इसके कामों में खुलकर हिस्सा लें और केवल चुनावों में हिस्सा लेने मात्र से यह काम नहीं चलेगा। नागरिकों को आर्थिक और प्रषासनिक मामलों में भी हिस्सा लेना चाहिए। इसलिए लास्की सत्ता को उत्तरदायी सत्ता के रूप में स्थापित किये जाने की सलाह देते हैं और इसके लिए वे तीन तरीके बतलाते हैं–– (1) सत्ताधारी को या सरकार को सत्ता से हटा देने के तरीके दिये जाने चाहिए। (2) परामर्षदात्री संस्थाओं का गठन किया जाना चाहिए तथा (3) नागरिक समान रूप से षिक्षित तथा आर्थिक रूप से भी समान होने चाहिए। तभी सत्ता सीमित और उत्तरदायी होगी।

(प•) सत्ता का विकेन्द्रीकरण – लास्की के मतानुसार सत्ता का विकेन्द्रीकरण लोकतंत्र की पहली भार्त है। विकेन्द्रीकरण के दो पक्ष हैं–– (1) भाक्तियों का पष्थक्करण और (2) प्रादेषिक विकेन्द्रीकरण अर्थात संघीय भाासन की स्थापना जिसमें भाक्तियाँ केन्द्र और राज्यों में वितरित कर दी जायें। इसके अलावा स्वषासन संस्थाओं को भी पुश्ट किया जाए।

(•) उद्योगों में स्वषासन की स्थापना – लास्की ने उद्योगों में स्वषासन की स्थापना पर बल देते हुए कहा है कि उद्योगों के प्रबन्ध के लिए औद्योगिक परिशदें बनायी जानी चाहिए जिनमें उद्योगपति, उपभोक्ता, मजदूरों और सरकारी प्रतिनिधियों को भाामिल किया जाये। इसे लास्की ने ष्औद्योगिक लोकतंत्रष् का नाम दिया है। औद्योगिक क्षेत्र में लोकतंत्र की स्थापना के फलस्वरूप राज्य की सर्वोच्च सत्ता स्वयंमेव नश्ट हो जायेगी।

(3) लास्की के स्वतंत्रता एवं समानता सम्बन्धी विचार – लास्की के स्वतंत्रता सम्बन्धी विचारों का विवेचन निम्नलिखित बिन्दुओं के अन्तर्गत किया गया है–

(प) स्वतन्त्रता का अर्थ – लास्की के दर्षन की आधारषिला उसका व्यक्ति में विश्वास है । लास्की यह स्वीकार नहीं करता कि स्वतंत्रता बन्धनों का अभाव है। वह स्वतंत्रता का अर्थ आत्मानुभूति और समान अवसरों की उपस्थिति से लगाता है। लास्की से स्वतंत्रता सम्बन्धी विचार कुछ ग्रीन और एक्टन के समान हैं। लास्की के ही भाब्दों में, श्स्वतंत्रता उन सामाजिक अवस्थाओं की सत्ता पर बन्धनों का अभाव है जो आधुनिक परिस्थितियों को निष्चित करते हैं।श लास्की ने स्वतंत्रता की एक अन्य परिभाशा यह दी है कि श्स्वतंत्रता उस वातावरण को बनाये रखने में है जिसके अन्तर्गत व्यक्ति अपने चरम विकास की स्थिति को प्राप्त कर सकता है।श लास्की का मानना है कि बिना अधिकारों की स्वस्थ व्यंवस्था के स्वतंत्रता संभव नहीं है अधिकारों की व्यवस्था के बिना स्वतंत्रता केवल एक नारा है।

लास्की के स्वतन्त्रता एवं समानता सम्बन्धी विचारों का अध्ययन निम्नलिखित भीर्शकों के अन्तर्गत किया जा सकता है–

(पप) स्वतन्त्रता के तीन पहलू – लास्की ने स्वतंत्रता के निम्नलिखित तीन पहलू बतलाये हैं–

() व्यक्तिगत स्वतंत्रता – व्यक्तिगत स्वतन्त्रता के अन्तर्गत, व्यक्ति अपनी इच्छानुसार जीवन के उन क्षेत्रो में स्वतन्त्रता का उपभोग करता है, जहाँ उसके प्रयत्नों का फल केवल उसी

को प्रभावित करता है जैसे— धार्मिक—क्षेत्र, निर्धनों का वैधानिक आश्रम का अधिकार आदि

(इ) राजनीतिक स्वतन्त्रता

इसका आषय व्यक्ति के राज्य के कार्यों में भाग लेने, निर्वाचित होने, विचार व्यक्त करने, राज्य की आलोचना करने, प्रतिनिधि चुनने आदि की स्वतन्त्रता से है

(ब) आर्थिक स्वतन्त्रता

इसके अन्तर्गत, लास्की उद्योग सुरक्षा, काम के अवसर, उचित वेतन प्राप्त करने आदि स्वतन्त्रताओं को सम्मिलित करता है। उसके अनुसार राजनीतिक स्वतन्त्रता बिना आर्थिक स्वतन्त्रता के निरर्थक एवं अव्यावहारिक है।

स्वतंत्रता एवं अधिकारों का घनिश्ठ सम्बन्ध लास्की के अनुसार, अधिकारों की अनुपस्थिति में स्वतंत्रता सम्भव नहीं है। अधिकारों के प्राप्त होने पर ही स्वस्थ व सक्षम वातावरण एवं विकास सम्भव है किन्तु जिन नियमों व नियन्त्रणों से व्यक्ति व समाज का हित होता है तथा बुराइयाँ होती हैं या रुकती है, उनका पालन अवष्य करना चाहिए

स्वतन्त्रता की रक्षार्थ आवष्यक भार्ते निम्नलिखित भातों का होना आवष्यक बतलाया है—

लास्की ने स्वतंत्रता की रक्षा के लिए

समाज में कोई विषेश सुविधा प्राप्तं वर्ग का न होना,

कुछ व्यक्तियों के अधिकार दूसरे व्यक्तियों की इच्छा पर निर्भर न होना,

भाक्ति पर साधारण जनता की थी पहुँच होना,

राज्य का आचरण पक्षपातरहित होना, तथा

षिक्षा एवं आर्थिक सुरक्षा की समुचित व्यवस्था होना ।

लास्की के अनुसार, समानता के बिना

(अ) स्वतन्त्रता के साथ समानता भी होना

स्वतन्त्रता एकांगी व एकपक्षीय है। लास्की के लिए समानता का अर्थ पूर्ण समानता नहीं है, क्योंकि व्यक्ति की इच्छाओं, आवष्यकताओं एवं क्षमताओं से भिन्नता तो रहेगी ही। किन्तु यह आवष्यक है कि न्यूनतम स्तर पर समानता हो, उन्नति एवं विकास के लिए सभी को समान अवसर प्राप्त हों, जन्म एवं सम्पत्ति के आधार पर कोई विषेशाधिकार न हों तथा प्रतिफल के सम्बन्ध में कोई भेदभाव न हो ।

व्यक्ति की गरिमा एवं उपयोगिता में विश्वास — लास्की के अनुसार, सामाजिक एवं आर्थिक स्थिति में भेद—भाव तभी स्वीकार किये जा सकते हैं, जबकि सम्पूर्ण समाज के लिए समानता का न्यूनतम स्तर प्राप्त हो जाए जैसे—भोजन, आवास, वस्त्र आदि न्यूनतम आवष्यकताओं की पूर्ति द्य सबको अपने—अपने विकास के लिए समुचित अवसर प्राप्त हो, इसके लिए कुछ लोगों की स्वतंत्रता को सीमित करना आवष्यक है। धन के अधिक न्यायपूर्ण व समान वितरण के

लिए लास्की ने राज्य द्वारा नियोजन एवं आर्थिक व्यवस्था पर नियन्त्रण रखने का समर्थन किया।

कुछ व्यक्तियों की स्वतन्त्रता नियन्त्रित करने की आवष्यकता लास्की के मतानुसार, समाज में अधिकाधिक समानता लाने के लिए कुछ व्यक्तियों की स्वतन्त्रता को नियन्त्रित करना आवष्यक है, उदाहरणार्थ, राश्ट्रीयकरण या नियोजन करते समय कुछ व्यक्तियों की भाक्ति और स्वतन्त्रता पर प्रतिबन्ध लगाना आवष्यक हो जाता है। वास्की का मत है, श्समानता की ओर बढ़ना स्वतन्त्रता प्राप्ति के लिए प्रयास है।श स्वतन्त्रता एवं समानता दोनों का व्यावहारिक प्रयोग होना चाहिए, इसी से विश्व–सहयोग सम्भव हो सकेगा।

लास्की की अधिकारों सम्बन्धी धारणा (संपेष्अपमू वद जीम तपहीजे) – श्लास्की की मान्यता है कि प्रत्येक राज्य उन अधिकारों से जाना जाता है जिनकी वह व्यवस्था करता है। राज्य अधिकारों को उत्पन्न नहीं करता वरन् उन्हें स्वीकार करता है।श लास्की के ही भाब्दों में अधिकार वे भार्ते हैं जिनके अभाव में व्यक्ति अपने सर्वोत्तम हित की खोज नहीं कर सकता लोक कल्याण की दृश्टि से अधिकार अनिवार्य हैं।

लास्की के अधिकारों सम्बन्धी धारणा का विवेचना निम्नलिखित बिन्दुओं के अन्तर्गत किया गया है–

अधिकार से अभिप्राय –– लास्की के अनुसार, श्अधिकार सामाजिक जीवन की वे स्थितियाँ हैं, जिनके बिना सामान्य रूप से कोई भी व्यक्ति अपना सर्वोच्च विकास नहीं कर सकता। अधिकार राज्य से पूर्व भी होते हैं। राज्य उनको स्वीकार करे अथवा न करें, इस बात का अधिकारों पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता ।श राज्य के असामान्य कर देने पर भी अधिकार रहेंगे और उनकी प्राप्ति के लिए लोग संघर्श करेंगे। अधिकारों को राज्य से प्राप्त करना व्यक्ति का अधिकार है। राज्य को अधिकारों की व्यवस्था करनी ही चाहिए। राज्य उन परिस्थितियों को प्रदान करने के लिए बाध्य है जिनके बिना व्यक्ति अपनी योग्यता की चरम सीमा को नहीं पहुँच सकता जिसके कि वह योग्य है। जहाँ तक संभव हो सके राज्य को उन बाधाओं को दूर करना चाहिए जो व्यक्ति को सर्वोत्तम हित अर्जित करने से रोकती हैं।

व्यक्ति के प्रमुख अधिकार बतलाये हैं–.

लास्की ने व्यक्ति के निम्नलिखित प्रमुख अधिकार

सम्पत्ति का अधिकार

प्रतिनिधि राजनीतिक विचारक एवं विचारधाराएँ

भाशण देने व संघ बनाने का अधिकार,

पर्याप्त वेतन प्राप्त करने का अधिकार

षिक्षा का अधिकार

जीविकोपार्जन का अधिकार.

कार्य करने के उचित घण्टों का अधिकार.

राजनीतिक भासन में भाग लेने का अधिकार तथा

लास्की की दृश्टि में यदि निरन्तर राज्य व्यक्ति के

न्यायिक संरक्षण का अधिकार

राज्य के विरूद्ध अधिकार

व्यक्तित्व के विकास की आवष्यक परिस्थितियों को प्रदान करने में षिथिलता और उदासीनता दिखाता है जो व्यक्ति उस स्थिति को बहुत समय तक सहन नहीं कर सकते। उनमें क्षोभ और प्रतिषोध की भावना का जागष्त होना स्वाभाविक हैं। यदि राजा अधिकार नहीं देता है तो उसे आज्ञाकारिता भी प्राप्त करने का अधिकार नहीं है। लास्की के अनुसार, व्यक्ति को निम्नलिखित दो परिस्थितियों में राज्य की अवज्ञा करने का अधिकार है–

जब व्यक्ति संगठित रूप से यह अनुभव करे कि राज्य सामान्य हितों की रक्षा

नहीं कर रहा है तथाजब ऐसा प्रतीत हो कि राज्य आत्म–विकास के आवष्यक अधिकारों का अपहरण कर रहा है।

राज्य के विरूद्ध अधिकार का समर्थन करते हुए लास्की ने कहां है–

यह राज्य का कर्त्तव्य है कि वह व्यक्तियों के लिए उन बाह्य स्थितियों की व्यवस्था करे, जो उनके चरित्र के विकास के लिए आवष्यक हैं। राज्य पर नागरिक अपने दावे रखता है. इसलिए राज्य को उसके अधिकारों की रक्षा करनी चाहिए। राज्य का उसके लिए ऐसी भात की गारण्टी करनी ष्चाहिए, जिनके बिना वह अपना सर्वोत्तम विकास नहीं कर सकता।

(पअ) अधिकारों की रक्षा तथा अधिकारों के पूर्ण भोग हेतु आवष्यक परिस्थितियाँ अधिकारों की रक्षा के लिए लास्की संवैधानिक संरक्षण की व्यवस्था अथवा भाक्तियों के पष्थक्करण–सिद्धान्त को कोई विषेश महत्व नहीं देता। उनके अनुसार, अधिकारों की सुरक्षा, अधिकारों के पूर्ण भोग के लिए निम्नलिखित तीन परिस्थितियों का होना आवष्यक है राज्य विकेन्द्रित हो, जिससे जनता राजकीय मामलों में अधिकाधिक रूचि ले और अपने स्थानीय अधिकारों पर अधिक नियन्त्रण कर सके

केन्द्रीय सरकार को परामर्ष देने के लिए पर्याप्त परामर्षदात्री संस्थाएँ हों, ताकि उ प्रमुख समस्याओं एवं उनके समाधान पर विषेशज्ञों का परामर्ष प्राप्त हो सके। विषेशज्ञों का समूह प्रत्येक विभाग के साथ हो ।

राज्य अन्य संस्थाओं के आन्तरिक मामलों में तब तक कोई हस्तक्षेप न करे, जब तक कोई समुदाय या संस्था राज्य को हिंसात्मक साधनों से नश्ट करने का प्रयत्न न करें }

अधिकारों की पूर्व मार्ते लास्की के अनुसार अधकारों की पूर्व भातें हैं– कानून, संस्था तथा राज्य द्य इनको लास्की अधिकारों के भौतिक साधन कहता है।

(5) प्रजातंत्र पर लास्की के विचार – प्रजातंत्र को लास्की सर्वोत्तम व्यवस्था मानता है, जिसके अन्तर्गत ही व्यक्ति का समग्र विकास सम्भव है। प्रजातंत्र एवं पूंजीवाद एक साथ

कभी नहीं चल सकते । पूँजीवाद प्रजातान्त्रिक होने का ढोंग तो रचता है, किन्तु उसकी आत्मा निक श्टतम अधि नायकत्व की सूचक होती है। पूँजीवाद प्रजातंत्र को अपने हितों व स्वार्थों की रक्षा के लिए काम में लेता है। पूंजीवाद के अन्तर्गत वास्तविक स्वतंत्रता एवं समानता नहीं रह सकती, जिनका विद्यमान रहना प्रजातंत्र की सफलता के लिए आवष्यक है। .

लास्की ने प्रजातंत्र की वर्तमान निर्वाचन–पद्धति की आलोचना निम्नलिखित भाब्दों में की है–

यह बात प्रजातंत्र के विरूद्ध है कि प्रति 5 वर्श में एक बार मतपेटियों के पास पहुंचकर अपने कर्तव्य की इतिश्री समझ ली जाये। इसका अर्थ तो यह हुआ कि सरकार 5 वर्श में केवल एक दिन अपने उत्तरदायित्व का अनुभव करती है और भोश दिनों स्वेच्छाचारी रहती है। घोशणा–पत्र, कार्यक्रम. निर्वाचन–मंच, चुनावों के समय के वायदे, ये सब व्यावहारिक दृश्टि से निरर्थक सिद्ध होते हैं, क्योंकि भासक दल इनका उपयोग अपने क्षणिक लाभ के लिए करते हैं आदर्ष प्रजातंत्र वह है, जिसमें समाज द्वारा निष्चित मतों को कार्य रूप में परिणत किया जाये और महत्वपूर्ण प्रष्नों के निर्णयों में जनता की राय अनिवार्य रूप से ली जाये। ऐसा प्रजातंत्र पूंजीवाद पर आधारित न होकर समाज की आध रषिला पर निर्मित होगा। प्रतिक्रियावद पूँजीवाद के स्थान पर प्रगतिषील प्रजातंत्र मानवता के लिए वरदान सिद्ध होगा

(6) अन्तर्राश्ट्रीय पर लास्की के विचार – लास्की विश्वएकता और अन्तर्राश्ट्रीय भान्ति व सहयोग का समर्थन था। उसके लिए एक विश्व की धारणा एक आदर्ष थी । लास्की राज्य की असीमित सम्प्रभुता को अन्तर्राश्ट्रीयता के विरूद्ध मानता था । विश्व संगठन तथा अन्तर्राश्ट्रीयता के प्रभाव की वषद्धि के लिए वह संघवाद की धारणा को सुदृढ़ बनाने का समर्थक था । वह भान्ति – प्रचारक एवं युद्ध विरोधी था । लास्की ने भारत तथा अन्य उपनिवेषों के स्वतंत्रता संग्राम का समर्थन किया था। पं० नेहरू से लास्की के घनिश्ठ सम्बन्ध थे। उपनिवेषवाद एवं सांम्राज्यवाद को लास्की अन्तर्राश्ट्रीयता के विकास में बहुत बड़ी बाधा मानता था। उसका कहना था कि संयुक्त राश्ट्र संघ को पिछड़े व अविकसित देषों की प्रगति के लिए ठोस कदम उठाने चाहिये। लास्की मानवता को विश्व धर्म के रूप में स्वीकार करता है। मानवता एवं अन्तर्राश्ट्रीयता की रक्षा करना प्रत्येक राज्य का कर्तव्य है। उसका कहना था कि अपना भासन करते हुए लोगों को भ्रातष्त्व की भावना से ओत–प्रोत रहना चाहिए।

(7) लास्की के मार्क्सवादी विचार – मार्क्स और लास्की दोनों का लक्ष्य है – आर्थिक भोशण से मानवता की मुक्ति द्य लेकिन 1931 तक लास्की पर मार्क्सवाद का अधिक प्रभाव नहीं था। लेकिन 1933 में प्रकाषित उनकी पुस्तक ”क्मउवबतंबल पद ब्तपेपेश में मार्क्सवादी प्रभाव दिखाई देता है।

1 लास्की ने मार्क्स के द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद को स्वीकार किया तथा इस बात में भी अपना विश्वास प्रकट किया कि व्यक्ति में अच्छाई तथा बुराई आर्थिक कारणों से उत्पन्न होती है। उसने मार्क्स द्वारा प्रस्तुत पूंजीवादी समाज के विष्लेशण को भी स्वीकार किया । वह मार्क्स के गर्वविहीन समाज में भी विश्वास करता है।

लेकिन लास्की कट्टर मार्क्सवादी नहीं है। उसने रूसी क्रांति को श्रमिकों के लिए प्रेरणा स्रोत कहा, लेकिन उसके अन्तर्राश्ट्रीय एवं प्रसारवादी स्वरूप को पसन्द नहीं किया। उसने आत्म

रक्षा के अधिकार के लिए श्रमिकों को पूंजीपतियों के विरुद्ध क्रांति के प्रयोग का अधिकार दिया, लेकिन वह संवैधानिक एवं लोकतंत्रीय साधनों के प्रयोग का समर्थक रहा।

वह रूसी राज्य क्रांति के प्रति सद्भावना रखते हुए भी श्रमिकों की तानाषाही का समर्थन नहीं कर सका। वह तानाषाही के सख्त खिलाफ रहा, चाहे तानाषाही का कोई भी रूप हो । लास्की के राजनैतिक विचारों की आलोचना

लास्की के राजनैतिक विचारों की आलोचना विद्वानों ने अनेक आधारों पर की है। कुछ प्रमुख आलोचनाएँ अग्रलिखित हैं–––

(1) सिद्धान्तों में संगतिहीनता

लास्की के विचारों में लगातार परिवर्तन होते रहने से उनके बीच कोई संगति नहीं बिठाई जा सकती। सच तो यह है कि 1920 के आसपास तथा 1936–37 के आसपास राज्य सम्बन्धी लास्की के विचारों का यदि तुलनात्मक अध्ययन किया जाये तो ऐसा लगेगा कि लास्की ने अपने ही विचारों का बाद में प्रतिवाद लिखा है क्योंकि लास्की ने पहले अपने बहुलवादी विचारों के अन्तर्गत राज्य की सत्ता में अत्यधिक अविश्वास व्यक्त किया और बाद में मार्क्स के प्रभाव के कारण उसने राज्य में मानवता को बचा लेने वाली एकमात्र भाक्ति के दर्षन कर डाले। दोनो परस्पर विरोधाभासी हैं। अंत में लास्की ने उक्त दोनों ही विचारों का त्याग करते हुए एक सुदृढ़ लोकतांत्रिक व्यवस्था का पक्ष लिया इस प्रकार उनका सिद्धान्त दो अतियों के बीच हमेषा लटकता रहा । कभी अतिवादी व्यक्तिवाद का समर्थन किया और कभी अतिवादी समाज का समर्थन किया। इस प्रकार उनके विचारों में परस्पर संगति का अभाव पाया जाता है।

लास्की के विचार केवल विचार हैं, वे न व्यावहारिकता की भूमि पर उतार कर कोई

(2) लास्की के विचार केवल विचार हैं सिद्धान्त हैं और न योजनाएं। उन्होंने अपने विचारों को योजना नहीं बनाई। कैरोल हॉकिन्स के भाब्दों में कहें तो लास्की एक विद्वान की अपेक्षा एक विचारक. अधिक हरे। किंग्सले मार्टिन के भाब्दों में, श्12वीं सदी के बाद के लोकतंत्रीय विचार और संस्थाओं का जितना गहहरा तथा भौतिक ज्ञान लास्की को था, उतना यूरोप और अमेरिका में अन्य किसी को नहीं था। परन्तु यह ज्ञान पढ़ाने वाला स्कूली ज्ञान था, काम करने वाला नहीं।श हरबर्ट डीन ने लिखा हे कि श्लास्की की रचनाओं में पाठक को कोई ऐसा आभास नहीं मिलता कि लेखक किसी विचार से जूझ रहा है।

(3) मौलिकता का अमाव लास्की के लगभग सभी विचार उधार हैं। कहीं–कहीं तो भाब्द रचना भी ज्यों की त्यों उधार ले ली गई हैं पर विष्लेशण और विस्तार उनका अपना है। आरम्भ में उन्होंने बहुलवादियों से धार लिया, व्यक्तिवाद में ग्रीन और कांट से उधार लिया और मार्क्स के प्रभाव में ही उन्होंने मार्क्स के सिद्धान्त को अपना बनाने की कोषिष की है।

(4) अनावष्यक विचार – लास्की के थोड़े से विचारों को समझने के लिये उनकी पूरी पुस्तक पढ़नी पड़ती है। उनकी सारी पद्धति पुरानी भास्त्रीय पद्धति है जिसमें अनावष्यक विस्तार के साथ विष्लेशण किया गया है, पर निश्कर्श पाठकों के ऊपर छोड़ दिया गया है

(5) विचारों में विरोधाभास – लास्की के विचार परस्पर विरोधी भी हैं। एक तरफ लास्की राज्य की निरपेक्ष संप्रभुता पर कठोर प्रहार करते हुए कहता है कि श्यदि संप्रभुता की सूची अवधारणा का परित्याग कर दिया जाये तो यह राजनीति विज्ञान के लिए चिरस्थायी रहने वाला लाभ होगा। दूसरी तरफ वह अन्तिम निर्णायक, नियामक और समन्वयकर्ता के रूप में राज्य को बनाए रखना चाहता है। इसी प्रकार एक तरफ, लास्की वर्ग संघर्श को एक संजीव सिद्धान्त और क्रान्ति को सामाजिक परिवर्तन की जननी मानता है ।श

(6) विचारों में अराजकता की बू

लास्की के आज्ञाकारिता सम्बन्धी विचारों में अराजकता की बू आती है। लास्की ने आज्ञाकारिता को अन्तरात्मा पर आधारित कर आज्ञा पालन की भावना का हील लोप कर दिया है। दूसरे, लास्की ने इस तथ्य की ओर ध्यान नही नहीं दिया कि प्रत्येक व्यक्ति के कानून की परख करेन के लिए आवष्यक योग्यता और क्षमता नहीं होती । ।

मूल्यांकन – 20वीं भाताब्दी के राजनीतिक चिन्तकों में हैराल्ड लास्की का प्रमुख स्थान है। यद्यपि उसके विचार पूर्णतः मौलिक नहीं कहे जा सके, तथापि उसने तत्कालीन परिस्थितियों के सन्दर्भ में जो कुछ भी लिखा, वह अत्यन्त महत्वपूर्ण व उपयोगी था ।

किंग्सले मार्टिन के मतानुसार, श्लास्की की तुलना मॉण्टेस्क्यू एवं टॉकविल से की जात सकती है ।श दूसरी ओर हर्बर्ट डीन जैसे विचारकों का मत है, श्कम से कम 1930 के पष्चात लास्की के दर्षन में बौद्धिक हास के दर्षन होते हैं।श प्रो. कैरोल हॉकिंस के अनुसार, श1930 के बाद लास्की एक विद्वान की अपेक्षा प्रचारक अधिक बन गया ।श इसमें कोई सन्देह नहीं कि 1930 के पहले के और बाद के लास्की के विचारों तथा उनकी गहनता में पर्याप्त अन्तर पाया जाता है, फिर भी एक महान विचारक और जनतान्त्रिक समाजवादी आन्दोलन के पथ प्रदर्षन के रूप में उसने महत्वपूर्ण व उपयोगी विचार प्रस्तु कये । लास्की की इस आधार पर भी आलोचना की गई है कि उसका स्वतंत्रता व समानता का साथ–साथ विद्यमान रहने का सिद्धान्त अव्यवहारिक सिद्ध हो चुका है परन्तु लास्की की यह धारणा कदापि नहीं थी कि समाज में पूर्णतः समानता हो। वह तो आय व सम्पत्ति की अत्यधिक विषमताओं, जन्मजात विषेशाधिकारों और साधारण जनता को अपनी उन्नति के अवसर प्राप्त न होने के विरुद्ध था । लास्की पर यह आरोप भी लगाया गया है कि राज्य के कानून की अवज्ञा का अधि कार लोगों को देकर उसने अराजकता फैलने की सम्भावना उत्पन्न कर दी, क्योंकि प्रत्येक व्यक्ति में कानून का औचित्य परखने की क्षमता नहीं होती ।

लास्की के विचारों में परिवर्तनों और असंगतियों के बावजूद, यह कहना असत्य न होगा कि उसने अपना जीवन समाज की सेवा के लिए अर्पित क्या और आधुकिन युग की समस्याओं को सुलझाने के लिए उपयोगी सुझाव दिये। एक महान अध्यापक एंव लेखक होने के साथ–साथ वह एक महान नेता भी था, जिसके पथ–प्रदर्षन के कारण 1945 में ब्रिटेन के मजदूर दल को सत्ता प्राप्त करने में सहायता मिली। लास्की ने पूंजीवाद और साम्यवाद के साथ–साथ साम्राज्यवाद व उपनिवेषवाद की भी आलोचना की । वह विश्व षान्ति एवं अन्तर्राश्ट्रीय सहयोग व सद्भावना का प्रबल समर्थक था ।

राजनीतिक दर्षन के विकास में लास्की का योग

दान

राजनीतिक दर्षन के विकास में लास्की के योगदान का विवेचन निम्नलिखित बिन्दुओं के अन्तर्गत किया गया है–

लास्की ने राज्य सम्बन्धी

1) राज्य सम्बन्धी व्यवहारवादी धारणाओं का विकास व्यवहारवादी धारणाओं के विकास में अत्यधिक योगदान दिया है। उनके राजदर्षन का केन्द्र व्यक्ति है और सामाजिक व राजनीतिक संस्थाएं व्यक्ति के हितों की पूर्ति के साधन मात्र है। इसी मापदण्ड से आधुनिक राज्य का मूल्यांकन कर वे इस निश्कर्श पर पहुंचते हैं कि कसी भी समाज व्यवस्था में राज्य एक सर्वोच्च बल प्रयोगी भाक्ति है। आधुनिक राज्य इस भाक्ति का प्रयोग उन लोगों के हितों की रक्षा एवं अभिवषद्धि के लिए करता है जिन लोगों के हाथों में उत्पादन के साधन रहते हैं इससे

समाज में न तो भांतिपूर्ण परिवर्तनों की व्याख्या संभव हो सकती है और न ही नागरिकों की न्यायोचित नांगों की पूर्ति, भले ही वह बल प्रयोग के द्वारा लौहरक्त, जीवनहीन व्यवस्था के ढाँचे को बनाये रख सकें।

उनका कहना है कि राज्य का वर्गीय पक्षपात और वर्ग–व्यवस्था की अन्यायपूर्ण लाभ एवं वितरण प्रणाली राज्य के वास्तविक उद्देष्यों से असंगत है। इस स्थिति का अन्त क्रांति द्वारा ही हो सकता है जिससे कि समाज का बहुसंख्यक भोशित वर्ग राजसत्ता को अपने हाथों में लेकर अन्याय का अन्त कर न्याय स्थापित कर सके। तभी वर्ग सम्बन्धों की पुनर्व्याख्या और राजय की वैधिक उपह रणाओं की पुनर्परिभाशा की जा सकती है। लास्की का विचार है कि आधुनिक राज्य के इस विकृत स्वरूप के कारण एक नवीन राजनीतिक दर्षन की आवष्यकता है।

इस प्रकार लास्की ने व्यावहारिक राजनीति दर्षन की आवष्यकता पर जोर देकर नवीन राजनीतिक चिंतन की ओर विद्वानों को उन्मुख किया।

(2) व्यक्ति की स्वतंत्रता के सिद्धान्त का प्रतिपादन – लास्की ने व्यक्ति को आर्थिक और राजनैतिक दोनों प्रकार की पराधीनंता से मुक्त करने के सिद्धान्त की खोज की। उनके मत में मनुश्य पषूतुल्य समाज की एक इकाई मात्र नहीं है, बल्कि उसका अपना व्यक्तित्व है। उन्होंने ग्रीन की तरह ही यह कहा कि व्यक्ति के पूर्णत्व के लिए स्वतंत्रता की आवष्यकता है। स्वतंत्रता व्यक्ति के विकास का महत्वपूर्ण माध्यम है। यह स्वतंत्रता केवल व्यक्ति के लिए ही उपयोगी हनीं है, अतएव यह सामाजिक हित में ही है कि समाज व्यक्ति को अधिक से अधिकं स्वतंत्रता प्रदान करे। इस प्रकार लास्की ने व्यक्तिगत हित और सामाजिक हित के बीच घनिश्ठ सम्बन्ध स्थापित कर दिया है। मिल के व्यक्तिवाद में व्यक्तिवाद और सामाजिक हित के बीच घनिश्ठ सम्बन्ध स्थापित कर दिया है। मिल के व्यक्तिवाद में व्यक्तिगत और सामाजिक हित के बीच इतना समन्वय नहीं हो पाया है। लास्की ने आर्थिक दृश्टि से व्यक्ति की स्वतंत्रता को अधिक सुरक्षित करने और सामाजिक हित के साथ उसे अधिक समन्वित करने की दृष्टि से ही समाजवादी विचारधारा को अंप नाया है। लास्की के स्वतंत्रता सम्बन्धी विचारों के विकास का एक क्रम रहा है। उनकी स्वतंत्रता आरम्भ में श्ळतंउउंत वि

च्वसपजपबेश के लिखेन तक विधेयात्मक (च्वेपजपअम) रही हे जो बहुत कुछ ग्रीन से मिलती जुलती है, . लेकिन बाद में मार्क्सवाद के प्रभाव में उनकी स्वतंत्रता का रूप निशेधात्मक (छमहंजपअम) होता गया और उन्हें यह विश्वास होता गया कि व्यक्ति को अपने विकास के लिए सही अवसर और स्वतंत्रता तब तक प्राप्त हनीं हो सकती जब तक कि उनके रास्ते से आर्थिक बाधाओं को दूर नहीं कर दिया जाता जिन्हें वर्तमान पूँजीवाद ने व्यक्ति के सामने खड़ा कर रखा है।

इस प्रकार लास्की के व्यक्ति के स्वतंत्रता सम्बन्धी विचार राजनीतिक चिंतन के इतिहास को महत्वपूर्ण योगदान है। उन्होंने अपने बाद के विचारों में स्वतंत्रता से अधिक महत्व स्वतंत्रता के लिए आवष्यक राजनीतिक परिस्थितियों को दिया है। उन्होंने स्वतंत्रता के रास्ते में विषेशाधिकारों की प्रदत्तता तथा बहुमत की निरंकुषता को प्रमुख बाधक माना है।

(3) लास्की के संप्रभुता सम्बन्धी विचार . लास्की की एक अन्य देन उनके संप्रभुता सम्बन्धी विचार हैं। लास्की ने राज्य संप्रभुता के विरूद्ध बड़े गहरे अनुभवपूर्ण एवं तीखे प्रहार किये हैं उनके अनुसार राज्य संप्रभुता का सिद्धान्त उसी प्रकार समाप्त हो जायेगा जिस प्रकार देवी सिद्धान्त समाप्त हो गया है। उसने ऐतिहासिक प्रमाणों के आधार पर यह बताया है कि यह सिद्धांत अवास्तविक, असत्य और अयुक्तिपूर्ण है। राज्य को धार्मिक सम्प्रदायों, मजदूर संघों आदि की मांगों के समक्ष झुकना पड़ता है। यह धारणा कानून की भाक्ति का निर्माण करने वाली सामाजिक और राजनीतिक भाक्तियों की उपेक्षा करती है। नैतिक आधार पर लास्की ने बताया है कि नैतिकता का मूलाधार स्वेच्छापूर्ण कर्म तथा व्यक्तित्व का विकास है। राज्य की आज्ञा का आंख मूंदकर पालन कराने वाला यह सिद्धांत व्यक्ति को दास बनाकर छोड़ देता है। व्यक्ति नैतिक दृश्टि से, राज्य की आज्ञाओं का पालन उनका अच्छा जीवन बिताने में सहायक होने तथा उकनी नितान्त आवष्यकताएँ पूरी करने के कारण करता है। इस प्रकार ऑस्टिन की संप्रभुता की विचारधारा अषांति पैदा करने वाली है ।

अतः स्पश्ट है कि लास्की ने ऑस्टिन की संप्रभुता की धारणा का खंडन तथा बहुलवादी

विचारों का समर्थन करते हुए उनको विकसित किया है।

अभ्यास–प्रष्न

1. लास्की की संक्षिप्त जीवनी प्रस्तुत करें।

2. लास्की के प्रमुख राजनीतिक विचारों का वर्णन करें।

3. लास्की के अनुसार अधिकार के क्या अभिप्राय हैं? व्याख्या करें।

4. लास्की के राजनैतिक विचारों की आलोचना पर टिप्पणी लिखें।

5. राजनीतिक दर्षन के विकास में लास्की के योगदान की समीक्षा कीजिये ।

संदर्भ ग्रंथ सूची

1. राजनीतिक विचारधारा के मूल सिद्धांत – डॉ. रामचंद्र प्रधान
2. पश्चिमी राजनीतिक चिंतन – डॉ. ब्रज नारायण मिश्र
3. राजनीतिक विचारक – डॉ. आर.सी. गुप्ता
4. राजनीतिक सिद्धांत और विचारक – डॉ. ज्ञान चतुर्वेदी
5. आधुनिक राजनीतिक सिद्धांत – डॉ. भानुप्रकाश
6. राजनीतिक चिंतन का इतिहास – डॉ. हेमचंद्र पाठक
7. पाश्चात्य राजनीति विचारधारा – डॉ. हनुमान प्रसाद
8. राजनीतिक चिंतन: प्लेटो से मार्क्स तक – डॉ. शशिकांत शर्मा
9. भारतीय एवं पाश्चात्य राजनीतिक विचारक – डॉ. ओ.पी. गौतम
10. राजनीतिक चिन्तन के प्रवक्ता – डॉ. महेंद्र सिंह राणा
11. पश्चिमी राजनीति दर्शन – डॉ. डी.सी. भगत
12. राजनीतिक दर्शन और विचारक – डॉ. एम.एल. व्यास
13. राजनीतिक विचारकों का इतिहास – डॉ. प्रभात कुमार

MATS UNIVERSITY

MATS CENTER FOR OPEN & DISTANCE EDUCATION

UNIVERSITY CAMPUS : Aarang Kharora Highway, Aarang, Raipur, CG, 493 441

RAIPUR CAMPUS: MATS Tower, Pandri, Raipur, CG, 492 002

T : 0771 4078994, 95, 96, 98 M : 9109951184, 9755199381 Toll Free : 1800 123 819999

eMail : admissions@matsuniversity.ac.in Website : www.matsodl.com